चन्द सतरें और

अनीता राकेश

राधाकृष्ण प्रकाशन

मूल्य : १२ रुपये

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन
२ अंसारी रोड, दरियागंज
दिल्ली-११०००६

मुद्रक
भारती प्रिंटर्स
के-१६, नवीन शाहदरा
दिल्ली-११००३२

उस एक को
कि जिसका साथ मैं भी जीवन भर
नहीं छोड़ूँगी ।

सतरों पर सतरें

अनीता का अनुरोध-भरा और अधिकार-भरा पत्र मिला कि मुझे उसकी 'चन्द सतरें और' पर कुछ सतरें लिखनी हैं। इसके लिए मुझे उसकी बीस किस्तों को दोबारा पढ़ना पड़ा जो 'सारिका' में बराबर छपती रही है। उसने एक किस्त में संकेत दिया है कि राकेश बाहर-भीतर से एक नहीं थे, वह घर में कुछ और, बाहर कुछ और थे जिससे मैं सहमत हूँ। इसका सबूत मेरे पास यह है कि अनीता को राकेश के जालंधर छोड़ने का असली राज़ मालूम ही नहीं हैं। एक बार राकेश एक लिफ़ाफ़ा हाथ में लिये मेरे यहाँ आ टपका; लेकिन लिफ़ाफ़े से मज़मून का पता लगाना किस तरह मुमकिन हो सकता था। वह खुद ही बोल उठा—'इसमें मेरा इस्तीफ़ा है। मैंने इस शहर को छोड़ने का फ़ैसला कर लिया है।' उसके चेहरे पर उसकी हर कृति के नायक के चेहरे की तरह तनाव की लकीरें थीं। अभी-अभी कुल्लू और मनाली से लौटा था और वहाँ से दो या तीन ख़त मुझे डाल चुका था जिनमें इस तरह की लकीरें थीं: एक ख़त में लिखा था—'यह पत्र एक और कारण से लिख रहा हूँ। सोचता हूँ कि इससे एक तो मन का कुछ बोझ कम होगा और दूसरे इन दिनों की अस्थिरता का कारण आपके सामने स्पष्ट हो जायेगा। मैं पिछले कुछ महीनों से बार-बार जालंधर से बाहर जाने का निश्चय करता और फिर बदलता रहा हूँ।...बहुत दिनों से मेरी एक व्यक्ति से कुछ understanding थी। उस व्यक्ति को आप भी जानते हैं।...उसकी मम्मी इसके सख़्त खिलाफ़ है। वह स्वतंत्र रूप से निश्चय नहीं कर सकती।...बहुत दिनों से आपसे बात कर देना चाहता था, परन्तु कहते अपनी अहंभावना को चोट-सी लगती थी। आज भी बहुत सोचता रहा कि लिखूँ या न लिखूँ और लिखते हुए भी सोच रहा हूँ कि इसे पोस्ट करूँ या फाड़ दूँ। आपके सौहार्द को दृष्टि में रखते हुए मुझे बात ग़लत लगती है कि बार-बार और-और कारण बतला कर आपके सामने अपनी

अस्थिरता को explain करूँ।'

यह बात अपनी पहली बीवी से तलाक लेने के बाद की है। राकेश अपने ख़त का जवाब पाने के लिए उस शाम मेरे यहाँ आ टपका था। इस बीच मैं अपने तौर पर पता लगा चुका था कि विधुर की शादी भारतीय समाज में हो सकती है; लेकिन एक तलाकशुदा के लिए यह आसान नहीं है। मेरे मौन में उसने अपने ख़त का जवाब पा लिया था। वह धीरे-धीरे सरूर में आ गया और ठहाके लगा कर कहने लगा—'डॉक्टर भैया, अब मैंने शादी नहीं करनी है।' वह एकदम उस शहर को छोड़ कर चला गया जहाँ वह लड़की रहती थी। एक अरसे के बाद उसका एक हमदम मिला जिसने यह समाचार दिया कि राकेश ने दूसरी शादी कर ली है, उसके पाँव ज़मीन पर नहीं टिकते। मुझे लगा कि वह आसमान से गिर कर खजूर में अटक नहीं, लटक गया है।

इसके बाद अनीता की 'चन्द सतरें' चलती हैं जिनमें राकेश के पहले, राकेश के साथ और राकेश के बाद यादों का एक लंबा सिलसिला है। इन्हें कभी मीठी चुटकियाँ लेकर ताज़ा किया गया है, कहीं व्यंग्य-बाण छोड़ कर, कहीं आँसू बहा कर, तो कहीं मुसकान भर कर। एक बात जो इन सतरों में बार-बार उभरती है वह नया घर बनाने की है। राकेश और अनीता दोनों को इसकी सख़्त ज़रूरत थी। राकेश का घर अनेक बार टूटा है जिसकी गवाही उसके समस्त साहित्य में मिलती है—वह चाहे नाटक हो या उपन्यास या कहानी। राकेश ने वास्तव में एक ही पूरा नाटक लिखा है जो अधूरा है। कालिदास गुप्तकालीन न होकर राकेश-कालीन है। इसी तरह नन्द बुद्धकालीन न होकर राकेश-कालीन है। महेन्द्रनाथ तो सीधे तौर पर समकालीन है। इन सबकी एक समस्या है—घर के माध्यम से व्यक्तित्व की खोज और व्यक्तित्व के माध्यम से घर की खोज। कालिदास और नन्द टूटे घर से बाहर निकल कर महेन्द्रनाथ के रूप में टूटे घर में लौटने के लिए अभिशप्त हैं। यही हाल हरवंश-नीलिमा का है ('अँधेरे बन्द कमरे')।

अनीता अपनी बेबाक शैली में पहली ही किस्त में लेखक की जाति का मज़ाक उड़ाने ओर अपनी ममी पर व्यंग्य कसने से बाज़ नहीं आती—'इसके बाद दिन भर में हमारी माँ इतना हिन्दी-साहित्य निगल लेती थीं कि रात को सोने से पहले अगर वह उस सबकी जुगाली नहीं कर लेतीं तो उससे पैदा बदहज़मी का ख़मयाज़ा पूरे परिवार को अगले दिन भुगतना पड़ता है।' यह हाल सात साल की अनीता का है। यह माँ और बेटी में तनाव की इब्तिदा है जो बाद में इनमें भिड़न्त का रूप धारण करती है और कभी-कभी दोनों में सौतों की मुठभेड़ का संकेत देने लगती है। अनीता का घर टूटता रहता है, उसके लिए माँ और घर दोनों बेगाने होते जा रहे हैं, डैडी सब कुछ गँवाते चले जा रहे हैं। एक संवेदनशील लड़की में अकेलेपन का बोझ गहराने लगता है। वह आठ साल की आयु में राकेश के नाम

से परिचित हो जाती है और यह परिचय निजी न होकर दूसरों की ज़बानी है। माँ-बाप में लगातार तनातनी को अनीता ने बिना लाग-लपेट के उजागर किया है। अपने बारे में वह भाषा के लटके लेकर इस तरह बयान करती है—'भाई और छोटी बहन ममी-डैडी के चाँद-सितारे थे। मैं इन दोनों नक्षत्रों के मुक़ाबले इतनी कम रोशनी देती थी कि परिणामस्वरूप न तो कोई पहचान सका और न ही कोई नाम दे सका।' अनीता के बयान में कहीं कविता की लय है तो कहीं नाट्यात्मक 'आयरनी' है। माँ-बाप की नज़र इसलिए कड़ी थी कि बेटी कहीं फिसल न जाये और बाद में वह ऐसी फिसली कि फिसलती चली गयी और माँ-बाप ताकते रह गये। इस फिसलने की एक लंबी और करुण कहानी है।

अनीता के नाम से राकेश को माँ की ओर से पत्र लिखे जाने लगते हैं ताकि माँ का राज़ कहीं खुल न जाये। अनीता अगर माँ के पत्रों का हवाला कुछ विस्तार से देने का साहस करती तो तसवीर कम अधूरी होती। आठवीं किस्त में अनीता लेखक-जाति पर व्यंग्य कसने और मीठी चुटकियाँ लेने से बाज़ नहीं आती, जब वह अपनी सहेली बीना से खुल कर बात करती है—'अरे लेखक देखने वाली चीज़ नहीं है। बड़ी ही लिज़लिज़ी चीज़ है—स्टिकिंग पलास्टर कभी देखा है?' इस बीच राकेश की दूसरी बीवी पुष्पा माँ के लिए स्वीट है और माँ राकेश के लिए स्वीटर बुनने की कोशिश कर रही है। इस बढ़िया लेख में व्यंग्य का स्वर न केवल उठा हुआ है, सृजनात्मक स्तर पर भी है। अब राकेश को अनीता अपनी पहली पाती भेजती है, सीधा सम्बन्ध स्थापित होने लगता है। राकेश इनके यहाँ आने वाला है और इसके लिए सब तरह की तैयारियाँ होने लगती है—भौतिक, शारीरिक और मानसिक। उनके आने से चेहरे पर रौनक़ भी आने लगती है ताकि यह समझ लिया जाये कि बीमार का हाल अच्छा है। राकेश और अनीता में फ़ासला कम होने लगता है, दोनों का दुख एक-दूसरे को बाँधने लगता है। सारे संसार को बाँधने की बात केवल कोई महादेवी कर सकती है। इश्क की इब्तिदा होने लगती है और आगे-आगे क्या होता है इसे अभी देखना है। चोरी-चोरी आँखों के चार होने में किशोर और किशोरी के रोमांटिक बोध का परिचय मिलने लगता है।

इधर राकेश-अनीता का एक-दूसरे के पास आना और उधर माँ का राकेश को यह लिखना कि अनीता के लिए लड़का तलाशना है—विडम्बना की स्थिति को उजागर करता है। राज़ खुलने पर माँ-बेटी में भिड़न्त और अनीता का माँ को खरी-खरी यह सुनाना कि वह अपनी बेटी से जलती है एक ऐसे परिणाम में निकलता है जो दारुण है। एक तरफ़ मसाला पीसने वाला दौरी का का डंडा माँ के हाथ में है और दूसरी तरफ़ अनीता का शरीर सामने है। इस तरह की माँ की मारपीट के अनुभव से बेटी को अनेक बार गुज़रना पड़ा है। राकेश अनीता के मिलने-जुलने

और बातें करने की उलझनें भारतीय परिवेश में जानी-पहचानी हैं जिनसे कुछ किस्तें अटी पड़ी हैं। इस तरह संस्मरण के बयान का अंदाज़ अपने धरातल से उतरने की गवाही देने लगता है। बहरहाल इनकी शादी का ढंग अनोखा और निराला है। इसमें तीसरे गवाह को आवश्यक नहीं समझा गया है, केवल दो फूल-मालाओं को एकान्त में एक-दूसरे को पहनाया गया है। अभी तक राकेश को अपनी दूसरी बीवी से तलाक नहीं मिल सका था जिसकी आज ज़रूरत भी नहीं रही। तलाक के एवज़ में उसे एक चमकता चाकू दिखाया गया है जो राकेश को दिल्ली से भगा देता है।

इसके बाद अनीता ने उस बुनियादी सवाल को उठाया है जो राकेश के अपने जीवन और साहित्य की मूल समस्या है। इनके समूचे साहित्य के बारे में यह मेरी धारणा को पुष्ट करता है। अनीता का यह कहना है कि भाग जाने के बाद सारी रात राकेश एक ही बात बोलते रहे---**मुझे घर चाहिए,** मुझे ज़िंदगी में और सब कुछ मिला है —एक घर ही नहीं मिला। मैं कहाँ-कहाँ इसके लिए नहीं भटका, क्या इसके लिए नहीं किया ?' अनीता को यह घर एक चुनौती लग रहा था, नज़र नहीं आ रहा था। इस घर में उसकी जगह चाहे तीसरी थी—पहले नंबर पर लेखन था, दूसरे नंबर पर राकेश के दोस्त थे। कभी-कभी राकेश की बातों से अज्ञेय के 'शेखर' की गंध आने लगती है जो सब कुछ लेना जानता है, देने से कतराता है। अनीता के जीवन में एक क्षण ऐसा भी आया कि घर की ज़रूरत को ले कर नयी ज़िन्दगी का अन्त हो सकता था, लेकिन राकेश की अम्मा ने घायल अनीता को मरहम लगा कर इस नियति से उसे बचा लिया। राकेश को घर और बीवी बदलने की विवशता हर दो-तीन साल के बाद पड़ जाती थी। यह अमीरों के पुरानी गाड़ियाँ बदलने की ऐयाशी नहीं थी, लाचारी थी। उसका नया पता नोट करने के लिए मैंने एक अलग डायरी बना रखी थी। उसके अस्थिर स्वभाव का संकेत अनीता ने अपनी भाषा में दिया है—'उन्हें एक ऐसे घर की तलाश थी जिसमें एक नालायक़ लड़का हो, फिर भी उसके घर वालों को उसकी नालायक़ी पर नाज़ हो।' इसलिए राकेश को कहना पड़ा—'अब तू मेरा घर छोड़ कर जायेगी कि नहीं ? तुमने मेरा रिकार्ड ख़राब कर दिया है, दो साल से ज़्यादा मैं किसी औरत के साथ नहीं रहा। पहले मैंने सोचा कि दो-तीन साल के बाद चली जाओगी; लेकिन छह साल हो गये हैं, तेरे जाने के कोई आसार ही नज़र नहीं आ रहे।' इस तरह की तलखी-तुरशी में राकेश का घर बनने लगा था, लेकिन पहले अम्मा इस घर से चल दीं और बाद में उनका लाड़ला घर-बार छोड़ कर अपनी अम्मा के पास चला गया। वह माँ का आशिक था, बीवी का नहीं। वह हर औरत में अपनी माँ का चेहरा देखने का आदी हो चुका था जो उसे पूरी तरह मिल नहीं पाया। इसलिए शायद वह इस घर से चल दिया और अनीता के पास यादों की 'चन्द सतरें' लिखने

को रह गयीं। कमलेश्वर अगर राकेश का हमदम न होता तो इन सतरों के पढ़ने का अवसर न मिलता, ओंप्रकाश अगर उसका दोस्त न होता तो इन्हें छपने का अवसर न मिलता और हिन्दी में संस्मरण की विधा इनसे वंचित रह जाती।

५६५, सेक्टर १८
चण्डीगढ़

इन्द्रनाथ मदान

ताज़ा-ताज़ा पार्टीशन हुआ था—सिर्फ़ इतना ही नहीं, माँ ने उसके बाद ताज़ी-ताज़ी अंग्रेज़ी और हिंदी भी सीखी थी। इनके साथ-साथ कुछ छोटी-छोटी बातें और भी हुई थीं जैसे कि महिलाएँ पार्टीशन के बाहर आ गयी थीं और पार्टीशन (पर्दे) के अंदर पुरुष घुस गये थे। सोये जाग उठे थे और जागे सुला दिये गये थे, आदि-आदि। कुछ ऐसे ही में एक परिवार हमारा भी था। हमारा परिवार भी कुछ-कुछ अन्य परिवारों की तरह एक परिवार था जिसमें एक ममी, एक डैडी थे और उनके आगे एक बेटा और एक बेटी। उसी परिवार में तीसरा बच्चा अर्थात् मेरी छोटी बहन उसी पार्टीशन (पर्दे) के पुनः अदला-बदली का एक उदाहरण थी।

हमारा परिवार रिफ्यूजी अवश्य था, लेकिन ऐसा रिफ्यूजी जो कि पार्टीशन से बना था अर्थात् 'आज़ादी' से। इसलिए आज़ादी का असर ममी-डैडी दोनों में ही देखने को मिलता था। जैसे कि डैडी घर से सिर्फ़ एक बार ही बाहर जाया करते थे जबकि ममी कम से कम तीन चक्कर ज़रूर घर से बाहर लगा आया करती थीं। कोट-शूज़, पेंसिल-पाइंट हील्स, साड़ी का लंबा पल्लू, लंबे तराशे नाखून तथा तीखी लिपस्टिक...कुछ-कुछ ऐसी ही हुआ करती थीं वह। खिड़कियों पर लेसदार पर्दे, अंग्रेज़ों का सेकेंड-हैंड फर्नीचर, गलीचे और बीच मेज़ पर मेरीगोल्ड का गुलदस्ता। किचन में हाट-प्लेट, हीटर, केटल और फूलदार खाने की प्लेटें। आज़ादी के नाम पर शायद सभी कुछ था। और हाँ...बाहर पेड़ के नीचे एक पाइटीक गाड़ी। आगे एक छोटी-सी फुलवारी जिसमें सुबह-शाम भिश्ती पानी दिया करता था जो भले ही पानी ठीक से न दे लेकिन 'मेम साहब, सलाम' बराबर ठीक से किया करता था।

बहरहाल, माँ को नया-नया पढ़ने-लिखने का शौक जागा था। और यह शौक बढ़ते-बढ़ते अपने चरम पर पहुँच चुका था अर्थात् उन्होंने जैनेन्द्र और अज्ञेय-साहित्य को अपने जीवन का आदर्श बना लिया था। यहाँ तक कि उस आदर्श का प्रकाश पूरे परिवार के ललाट पर भी उजागर होने लगा। जैसे कि शरत की 'शुभदा', जैनेन्द्र का 'त्यागपत्र' और अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' हम बच्चों का होम-टास्क बन कर रह गये थे। हमारे परिवार में कोई सुबह ऐसी नहीं चढ़ती थी जबकि डबलरोटी पर मक्खन लगाते हमारी माँ के मुँह पर जैनेन्द्र का नाम न हो और

कोई शाम ऐसी नहीं ढलती थी जबकि चाय में चीनी मिलाने अज्ञेय का नाम न हो। कहने का मतलब सिर्फ़ इतना ही है कि सात वर्ष की आयु में हमारा हिंदी-साहित्य और साहित्यकारों से परिचय कुछ इसी तरह से हुआ। उनके पहरावे में धोती-कुरता, चप्पल, चश्मा कुछ इस तरह से हम पर हावी हुए कि इस वेश में जो व्यक्ति हमें नज़र आता, हम भाई-बहन एक-दूसरे के कान में यही फुसफुसाते कि देखो 'लेखक' जा रहा है। इसके अतिरिक्त उनके लंबे-लंबे खिंचे वाक्यों ने तो हमारी नसें कस कर रख दी थीं। यदि किसी लेखक से कोई व्यक्ति प्रश्न पूछ बैठे तो उनके उत्तर देने का एक उदाहरण देखिये—पहले तो सवाल पूछे जाने के पाँच मिनट बाद एक लंबी ढीली साँस छोड़ी—'हाँऽऽऽऽऽऽऽ ! ' फिर पाँच मिनट का लंबा अंतराल। फिर—'विचार तो कुछ ऐसा ही है।' फिर पाँच मिनट का लंबा अंत-राल। दूर कहीं बहुत दूर गहराई में खोये हुए। फिर—'लेकिन...मेरी दृष्टि में ऐसा करना उचित न होगा...।' बाप रे बाप ! हम दोनों भाई-बहन तो दिमाग लगा कर भी इतने लंबे-लंबे अंतराल में कहे गये वाक्यों को याद भी नहीं रख पाते थे कि जिससे उन्हें आपस में जोड़ कर उनका अर्थ ही निकाल पाते। ऐसे दमघोंट वाक्य और दमघोंट शामों में जब हमें बाहर क्रिकेट बैट का क्रिकेट बाल के संयोग से उत्पन्न हुआ शब्द सुनायी देता तो बहुत मधुर लगता। मन में आता कि अगर सुनील और प्रमोद के घर भी कोई लेखक आने-जाने लगें तो निश्चित ही उनका क्रिकेट भी अवश्य ही दम तोड़ देगा।

इसके अलावा दिन-भर में हमारी माँ इतना हिंदी-साहित्य निगल लेती थीं कि रात को सोने से पहले अगर वह उस सबकी जुगाली नहीं कर लेती थीं तो उससे पैदा हुई बदहज़मी का ख़मयाज़ा पूरे परिवार को अगले दिन भोगना पड़ता था। अतः तय यह हुआ कि रात को सोने से पहले हम सबके (समेत डैडी के) बीच वह दिन-भर का पढ़ा हुआ बाँचा करेंगी। हमारी माँ बहुत तेज़ क़िस्मत वाली थी, क्योंकि जितना कोआपरेशन उन्हें साहित्य तथा साहित्यकारों से नहीं मिला उतना उन्हें घर से मिला। सिर्फ़ इतना ही नहीं, जब-जब हमारी ममी ने हमारे डैडी से हिंदी-साहित्य शेयर नहीं किया, तब-तब उनमें कॉम्पलेक्स जागता रहा। और यह शायद ममी के थोड़ा-थोड़ा शेयर करने का ही परिणाम है कि डैडी पूर्णतया कॉम्पलेक्स-रिडेन नहीं हुए।

धीरे-धीरे हिंदी-साहित्य और तरक़्क़ी करने लगा। और माँ भी साहित्यिक सेवा में जी-जान से जुट गयीं। एक बार फिर पार्टीशन हुआ। घर सँभालना हमारे हिस्से में आया और साहित्य सँभालना ममी के हिस्से में। मेरे ख़याल में अपनी-अपनी योग्यता को ध्यान में रखते हुए दोनों ने अपने-अपने क्षेत्र को ठीक से ही सँभाला होगा।

फिर धीरे-धीरे उन साहित्यकारों की घरेलू तथा अन्य समस्याएँ भी हमारे

घर में घर करने लगीं। जैसे उनके असंतुलित विवाह—उस विवाह से उत्पन्न समस्याएँ...उन समस्याओं का समाधान...अगर हो सके तो उनके नये प्रेम... प्रेम से उत्पन्न समस्याएँ...उनके समाधान...अगर हो सके तो...और उन सब में हमारी माँ...उनका परिवार...परिवार से उत्पन्न हुई समस्याएँ...उन समस्याओं का समाधान...अगर हो सके तो...आदि-आदि।

इतनी सभी समस्याओं के बीच मैंने कितने यतन से चाय की प्यालियाँ बना-बना के पिलायीं और धोयीं! सिर्फ़ इसी आश से कि शायद इसी चाय की प्याली से कोई समाधान मिल जाये, लेकिन हर उस प्याली से पहले और बाद भी चाय उसी तरह बनती रही. प्यालियाँ टूटती रहीं, लेकिन समाधान? वह जाने कहाँ खो गया था? पार्टीशन के इस तरफ़ या उस तरफ़। उस किचन से उठती चाय की हबाड़ नाक में जाकर इस क़दर बस गयी थी कि अब उसके बाद अच्छे से अच्छे फूल या अच्छे से अच्छे खाने की खुशबू भी दूर भागती थी। उस सिल से कि जिस पर चाय का हीटर पड़ा रहता था, इतनी जान-पहचान हो गयी थी कि उस पर खींची लकीरों के भिन्न-भिन्न आकार मेरे लिए आज भी एक नाइट-मेयर से कम नहीं हैं—केवल लकीरें। बिना समाधान के।

इन सबके बीच एक और विचित्र समस्या। अज्ञेय जी वही लिखते थे जो उन्होंने भोगा हुआ था—अर्थात् वह स्वयं अपनी हर पुस्तक का हीरो अपने को ही मानते थे जबकि जैनेन्द्र जी का कहना था कि उन्होंने वही कुछ लिखा, जो वह स्वयं ज़िंदगी में नहीं कर सके, पर करना चाहते थे। बस उनमें कामन बात यही थी कि दोनों पीड़ित हो कर लिखते थे। एक इसलिए कि उन्होंने वह सब क्यों जिया, दूसरा इसलिए कि उन्होंने वह सब क्यों नहीं जिया—बस! यह कामन पीड़ा ही थी जो उन दोनों को शायद एक दूसरे के इतना पास लायी थी। लेकिन बाद में वही पीड़ा खाई इसलिए बन गयी थी क्योंकि जैनेन्द्र जी ने तो अपनी इस पीड़ा के साथ जीवन में एडजस्ट कर लिया था जबकि अज्ञेय जी ने उसके प्रति विद्रोह शुरू कर दिया था जो कि उनका आज दिन तक समाप्त नहीं हुआ है। लेकिन इस सबसे हट कर अगर कोई सचमुच में ही पीड़ित था तो वह हम दोनों बच्चे थे, जिनके उस छोटे-से दिमाग़ में धेले-भर की बात नहीं जाती थी और सिवाय इसके कि हम रोज़-रोज़ उनकी नयी-नयी बातें, समस्याएँ और क्लिष्ट भाषा से रोमांचित हों बिना किसी समाधान के रह जाते।

इसी से संबंधित एक बार जैनेन्द्र जी अपने उसी लंबे-खिंचे झूलते तरीके से पूछ बैठे, "कहो...भई...! बड़े होकर...क्या...बनने का इरादा है...?"

इस क़दर कस कर गुस्सा आ रहा था कि क्या कहूँ। लेकिन माँ की आशापूर्ण आँखों ने मार डाला। जवाब कुछ नहीं दिया, लेकिन अफ़सोस यही रहा कि यह नहीं कह सके कि कम से कम लेखक नहीं बनेंगे।

इस सब हंगामे के बीच हमारा दिमाग़ सिर्फ़ उसी दराज़ की तरफ़ भागता कि जिस दराज़ में हमारे स्कूल में भरती कराने के फार्म आकर पड़े हुए थे और रोज़ इस-उस में बीत जाता कि माँ को कब फुरसत हो कि उन्हें भर कर भेजने की याद दिला सकें। लेकिन पहले जैसा ही दूसरा दिन भी आ जाता। जैसे कि हमारी माँ ने भगवतीचरण वर्मा से कहा कि हमारे बच्चों ने 'सबसे बड़ा आदमी' पढ़ रखा है। भगवती जी ने आखिर भाई से पूछ लिया, "कहो भई फिर सबसे बड़ा आदमी कौन निकला ?" जवाब लौटती डाक से आया, "आप !" बस, आगे का अंदाज़ा तो आप भी अब लगा ही सकेंगे कि उसके साथ क्या हुआ होगा ! उन दिनों की याद करें तो बस यही बातें याद आती हैं और कुछ नहीं। राबिंसन क्रूसो और एलेक्जेंडर ड्यूमा के अर्थ तो हम लोग डिक्शनरीज़ में तलाशते फिरते थे।

उन दिनों हम ग्रैंड होटेल, सिविल लाइंस, दिल्ली में रहते थे। उस होटल में भी पार्टीशन हुआ था। होटल के सामने वाले कमरों में हिंदुस्तान के टूरिस्ट रहा करते थे और पीछे के कमरों में हिंदुस्तान के रिफ्यूजी। उन्हीं पिछले कमरों के कमरा नंबर २५ में हमारा परिवार था और कमरा नंबर २६ में विनोद-प्रमोद अपने ममी-डैडी के साथ रहते थे। उनकी ममी का नाम पुष्पा था जिन्हें हम बच्चे पुष्पा-आंटी कह कर बुलाते थे। यही पुष्पा-आंटी हमारी ममी की अभिन्न सहेली भी थीं। उन दोनों बहुत बातें कामन थीं। जैसे दोनों ही खूबसूरत थीं—सिर्फ़ इतना ही नहीं, दोनों को ही अपनी खूबसूरती का बड़ा एहसास भी था। दोनों पंजाबी थीं और सबसे ज्यादा दोनों बहुत अमीर खानदान से थीं और अब दोनों अपने-अपने परिवारों के साथ रिफ्यूजी भी थीं। इस सबसे अलग हट कर दोनों ही 'शमा', 'सुषमा' की धारावाहिक पाठक भी थीं। यह दोनों शुरू-शुरू में पार्टीशन के बाद सब कुछ के लुट जाने के बाद भी कहीं बहुत प्रसन्न थीं, क्योंकि पेट भले ही आधा खाली रहता था, लेकिन आज़ादी तो पूरी थी। उन घरों में यहाँ की रसोई में पका वहाँ और वहाँ का पका यहाँ आया करता था। वहीं साथ-साथ यहाँ की 'माया' वहाँ और वहाँ का 'मनोहर' यहाँ आया करता था। बच्चों का यह हाल था कि या तो वह धोबी-क्वाटर्स के सामने फैली बेरी पर पत्थरों से निशाना बाँधा करते थे या फिर होटल की गैलरी में शोर मचाया करते थे, या फिर एंग्लो-इंडियन जोड़ों को रात के सन्नाटे में बग़ल में हाथ दिये होटल के सामने के लान्स में टहलते छुप-छुप के देखा करते थे।

लेकिन यह दिन बहुत दिन नहीं चले, विनोद-प्रमोद के डैडी ने टोपियों के व्यापार से ही सब-कुछ बना लिया था, लेकिन हमारे डैडी ने सिलाई की मशीन के व्यापार में भी सब-कुछ गँवा दिया था। घर में पैसे की खींचा-खींची शुरू हो

राकेश 'अंधेरे बन्द कमरे' लिखे जानेके बाद

राकेश १९६१ में

राकेश : अपने अंतरंग दोस्त जवाहर चौधरी के घर पसरते हुए ।

गयी थी। आपस का गुस्सा बच्चों पर और बच्चों का गुस्सा आपस में निकालना शुरू हो गया था। लेकिन माँ के अतिथियों का आना-जाना बरक़रार रहा। अंतर सिर्फ़ इतना आया था कि पहले माँ उनकी समस्याएँ बाँटती थीं और अब जवाब में वह माँ की समस्याएँ बाँटने लगे थे। पैसे की कमी तो अलग थी ही, हमारी माँ को हमारे डैडी से और भी बड़ी शिकायतें थीं, जैसे कि उन्होंने अपनी खूबसूरत बीवी की क़दर नहीं की, उनकी प्रतिभाएँ नहीं पहचानी। उधर डैडी हमारे कई-कई दिन घर से लापता रहने लगे, सम्भवत: उस चेक-कपुल के साथ रहने लगे थे जिनके प्रयत्न से उन्हें इम्पोर्ट लाइसेंस मिला था। पता नहीं, पर वह चेक-कपुल विशेष रूप से डैडी पर मेहरबान थे, क्योंकि जब डैडी बहुत दिनों में मिले तो अच्छे-खासे इम्पोर्टेड लगने लगे थे। दोनों आज़ाद हो चुके थे। लेकिन माँ अब पीड़ित भी थीं, इसलिए उन्होंने धड़ाधड़ लिखना शुरू कर दिया था। उन्होंने 'प्रतीक' से लिखना आरम्भ किया था। लिखने के अलावा उनके दिमाग़ में एक कीड़ा और घुस गया था और वह था—वूमेन्स इकानॉमिक इनडिपेंडेंस। उन्हें यह लगने लगा था था कि स्वतंत्र होने में पहला क़दम आर्थिक स्वतंत्रता का ही होना चाहिए। इसी से औरत को पति द्वारा और समाज द्वारा सम्मान और स्थान प्राप्त हो सकता है। ममी ने डी० सी० एम० में नौकरी कर ली और 'दौराला चिल्ड्रेंस लीग' की 'आन्टी-स्वीटी' के नाम से नयी शोहरत पायी।

डैडी के बारे में कुछ और भी सुनने को मिलता था कि वह जे० पी० (पूरा नाम, ज्वालाप्रसाद) के यहाँ रहते थे। जे० पी० अंकल इसलिए प्रसिद्ध थे कि वह हर उस चीज़ को जुए में लगाते थे, जो उनके बिलकुल निकट होती थी। माँ का कहना था कि जे० पी० तो डैडी को भी कब के बेच के खा चुके हैं। हमें तो सिर्फ़ इतना याद है कि डैडी बीच-बीच में कई बार जे० पी० अंकल को साथ लेकर थोड़ी देर मिलने आया करते थे, लेकिन रात होते ही लौट जाया करते थे जैसे घर के मेहमान हों। जे० पी० अंकल हमें याद हैं : गोरा रंग, क़द लंबा और दाँत और होंठ पान के रंग में सख्त रंगे हुए। इसके अलावा उन दोनों के आने के साथ एक याद और भी जुड़ी हुई है, मिठाई की बहुत बड़ी टोकरी केवड़े से महकती हुई और माँ के बालों के लिए एक खुशबूदार गजरेला। मिठाई सच ही बहुत स्वादिष्ट होती थी। जितनी मिठाई महकती थी, उतना ही गजरेला भी। मिठाई भले ही हफ्ते में ख़त्म हो जाती थी, लेकिन टोकरी महीना-भर केवड़े से महकती रहती थी। सिर्फ़ माँ को ही नहीं, बल्कि हम बच्चों को भी डैडी का उस तरह माँ को मिठाई और गजरेला ला कर देना कहीं भला नहीं लगता था। उसके अलावा जे० पी० अंकल का सफेद कलफ़दार पजामा-कुरता कुछ ज़रूरत से ज़्यादा सफेद और अकड़ा हुआ लगता था। उनका ड्राइंग-रूम में आ कर मेहमानों का-सा व्यवहार इतना ज़्यादा मछली के काँटे की तरह गर्दन में फँसता-सा लगता था कि न तो निगलते ही बनता

था न उगलते ही। कितनी बार डैडी से कहने का मन होता था कि वह घर में रहें और या फिर मेहमानों-सा आना-जाना भी छोड़ें। लेकिन जे० पी० अंकल साथ में होते थे, इसलिए डैडी और भी बेगाने लगते। नतीजा—कभी इस तरह की बात नहीं कर सके। माँ जो कमा के लाती थीं, बस उसी में से मैं दोनों टाइम की रोटी बना देती थी। माँ कभी-कभी टाइम पर और कभी-कभी थोड़ी देर से घर आया करती थीं। इस बीच हम दोनों भाई-बहन उस होटल को दिन में कई-कई बार कोने से कोने तक नाप लेते थे—लावारिसों की तरह, या फिर एक-दूसरे के साथ खेल-लड़ लेते थे। विनोद-प्रमोद तो मसूरी होस्टल में चले गये थे, इसलिए पुष्पा-आंटी के पास कभी-कभी यों ही चले जाया करते थे। बाद में वह भी हमने शायद कम कर दिया था, क्योंकि पुष्पा-आंटी कई-कई बातें हमसे डैडी-ममी के बारे में पूछती थीं जिनके जवाब हम दोनों के पास नहीं होते थे। हालाँकि पत्रिकाओं का आदान-प्रदान उसी तरह होता रहता था। शायद कभी-कभी किसी-किसी कहानी पर बैठ कर वाद-विवाद हो जाया करते थे।

माँ हम दोनों भाई-बहन की दिनचर्या को लेकर काफी चिंतित रहती थीं। न कोई स्कूल था, न कोई पढ़ाई। स्कूल के लिए वह इसलिए घबराती थीं, क्योंकि शायद वह अपने वेतन से अपना, घर का और हमारे स्कूल का खर्चा नहीं उठा सकती थीं। इसलिए शायद उन्होंने यहाँ-वहाँ से करके अपनी गाड़ी को टैक्सी बनवा दिया था। लेकिन वह भी बहुत दिन नहीं चली, क्योंकि टैक्सी-ड्राइवर ही शायद सारा हज़म कर जाता था। आख़िर हार कर माँ ने अपने ज्येष्ठ के जवान लड़के को ही टैक्सी चलाने को दे दी। उसका नाम जगदीश था और वह हम बच्चों का फर्स्ट कज़िन था। बहरहाल, टैक्सी का चक्कर एक बार फिर असफल रहा। क्योंकि एक रात को कनाट-प्लेस में वह रात को टैक्सी में पीकर सोता हुआ पाया गया था जिसकी वजह से उसे जेल की हवा भी खानी पड़ी। ममी ने हार कर गाड़ी बेच दी। हम लोग फिर स्कूल न जा सके।

माँ हम दोनों से इतनी दुःखी हो गयी थी कि क्या बतायें! उनके आगे सिर्फ़ हमारी पढ़ाई की ही समस्या नहीं थी, बल्कि अपनी पढ़ाई की भी थी। वह आगे पढ़ाई करने के लिए स्वयं तो वर्किंग गर्ल्स होस्टल, कर्ज़न रोड में शिफ्ट कर गयीं, और हमें उन्होंने अपने मायके यानी हमारे नाना के यहाँ रवाना कर दिया। अब क्या बतायें कि हमारी ज़िंदगी क्या से क्या हो गयी थी? माँ के पास कोई चारा भी नहीं था, उन्होंने प्रभाकर की परीक्षा देनी और देनी ही थी। हम लोग उनकी परीक्षा का ही इंतज़ार करते रहे कि शायद उनकी परीक्षा पूरी होने पर ही कुछ हो सके। उनकी परीक्षा पूरी भी हो गयी और उन्होंने हमें वापस बुला भी लिया, लेकिन पता नहीं क्यों इस बार हमको भी माँ और वह घर बहुत ही बेगाना-सा लगा। अज्ञेय जी के एक मित्र सक्सेना नाम से थे जो नये आने-जाने लग गये थे।

उनके पास ठहरी एक बंगला युवती के साथ शायद अज्ञेय जी का नया-नया प्रेम पनप रहा था। उन्हीं की दिन-रात की चर्चाओं से ही घर का वातावरण ऊपर तक भरा रहता था। एक नये मित्र और आया-जाया करते थे और वह थे महावीर अधिकारी। लगा करता था कि जैनेन्द्र और अज्ञेय से कहीं ज़्यादा वह माँ के लेखन को ले कर चिंतित थे। अब दिन-भर वह दफ्तरों में रहतीं और शाम-भर किसी न किसी स्क्रिप्ट पर लगी रहतीं। हमने लौट कर आने पर पाया कि इस बीच में माँ ने ढेर सारी स्क्रिप्ट लिख ली हैं। अगर एक स्क्रिप्ट पूरी हो जाती तो दूसरी की बारी आ जाती। सिर्फ़ हम वहीं के वहीं रहते थे। एक अंतर और भी आया था, वह यह कि डैडी कभी-कभी दो-तीन दिन के लिए रहने भी चले आते थे। बह दिन एक दूसरे ही प्रकार ही तनातनी में निकल जाते थे। शायद सिर्फ़ इसीलिए दोनों के क्षेत्र और ज़्यादा ज़ोर पकड़ने लगे। लेकिन हम दोनों को नजात नहीं मिली। कितनी बार घर में जैनेन्द्र, अज्ञेय, महावीर अधिकारी, दीनानाथ सिर्फ़ इसलिए ही आया करते कि घंटों डैडी को बैठा कर समझायें। उधर कितनी बार जे० पी० ममी को घंटों समझाने आया करते थे। लेकिन बातें वैसी की वैसी बनी रहतीं, और हम भी वैसे के वैसे ही बने रहे।

धीरे-धीरे घर की हालत और बुरी होती गयी। माँ कई-कई दिन बिस्तर पर पड़ी रहतीं। सिर-दर्द, या और कुछ लेकर कई-कई दिन हम उनसे नहीं मिल सकते थे। अजीब वातावरण था। हम दोनों भाई-बहन कुछ न कुछ पका कर खा लिया करते और सो जाते। माँ न कुछ खातीं न पीतीं, सिर्फ़ अपने कमरे में बंद पलंग पर लेटी रहतीं। जो लोग उनसे मिलने आते सिर्फ़ वही उनसे अंदर मिलने चले जाते। एक दिन पता नहीं कैसे उन्होंने हम दोनों को अंदर बुलवाया। वह दिन हमें आज तक नहीं भूलता। कमरे में अंदर घुसते ही बाम की तेज़ गंध हम लोगों की नाक से सीधा सिर को चढ़ गयी थी। पास स्टूल पर जगदीश पापाजी (हमारा कज़िन) बैठे थे। माँ के माथे पर कस कर एक पट्टी बँधी हुई थी। माँ ने धीरे से गरदन मोड़ कर हम दोनों की तरफ़ देख कर थोड़ा-सा मुस्कुरा दिया। मुझे अच्छी तरह याद है कि जितने उत्साह से हम अंदर गये थे वह सब तो अंदर घुसते ही उस कमरे के वातावरण ने ही धो डाला था। इसके अतिरिक्त माँ की मरी हुई मुस्कान और दमघोंट वातावरण ने हमें अपना अस्तित्व तक भुला दिया था। वहाँ खड़े-खड़े इतनी घबराहट हो रही थी कि जैसे किसी ट्रायल रूम में खड़े हुए हों। हमें थोड़ी देर देख कर माँ ने आँखे मूंद ली थीं। उसके बाद हम काफी देर तक चुप खड़े रहे। इतनी हिम्मत भी नहीं हुई कि एक-दूसरे से भी आँख मिला सकें, थोड़ी देर में कच्चे ग्लूकोज़ की खुशबू कमरे में फैल गयी। शायद पापाजी माँ को ग्लूकोज़ पिलाने लगे थे। माँ को उठाया गया। उन्होंने फिर हमारी तरफ़ देखा। ऐसा लगा मानो वह हमें अभी तक वहाँ खड़े देख कर चौंक गयी थीं।

हम मौक़ा मिलते ही कमरे से आहिस्ता-आहिस्ता बाहर आ गये। चाहते यही थे कि भाग कर बाहर आ जायें। लेकिन वातावपण इतना डेलीकेट था कि उसमें पदचाप की आवाज़ भी निकालते डर-सा लगा। इसलिए क़दम गिन-गिन कर पूरे किये।

क्या लिखूँ, क्या न लिखूँ यह सोच-सोच कर ही दिमाग़ पत्थर हो जाता है। कहाँ से लिखना शुरू करूँ और कहाँ उसका अंत करूँ, सिर्फ़ इसी सोच में कई-कई घंटे निकल जाते हैं। कई-कई बार सोचते-सोचते दिमाग़ एक ऐसे बिंदु पर आकर रुक जाता है जैसे कि किसी डैमेज्ड रेकार्ड पर एक जगह आकर सुई फँस जाती है और जान-लेवा शब्द पैदा करने लगती है। उस समय सिर्फ़ यही मन करता है कि किसी तरह वह शब्द पैदा होना बंद हो जाये। ठीक ऐसा ही हाल उस समय दिमाग़ का हो जाता है। दिमाग़ की सुई भी जब एक ही बिंदु पर आकर रुक जाती है तो लगता है कि तनी नसें कभी तिड़क जायेंगी।

आज भी उस बीते बचपन की यादें रोमांचित कर जाती हैं। एक ऐसा घर जो अपने लिए एक सराय से ज़्यादा कुछ नहीं था, जिसमें सिर्फ़ बाहर के लोगों के लिए ही आराम जुटाना हमारा धर्म-कर्म रह गया था, उस घर की कोई भी चीज़ अगर बाँटी जा सकती थी तो सिर्फ़ बाहर वालों के लिए ही थी। और उन्हीं बाहर के लोगों में से हमें एक अजीब-सी बू आने लगी थी। एक ऐसी बू जो किसी क्लोरो-फार्म से कम तेज़ नहीं थी। उन लोगों के आते ही हमारी इंद्रियाँ इतनी बेकार हो जाती थीं कि हम लोग बेहोश-से हो जाते थे और होश तभी आता था जब वे लोग चले जाते थे। लेकिन धीरे-धीरे हमने पाया कि वह बू हमारे घर में अब घर कर चुकी थी। वह लोग आयें न आयें, लेकिन उनकी छोड़ी हुई बू अब हमारी क़िस्मत बन चुकी थी।

उस घर की कुर्सियों पर बैठ-बैठ कर लोगों ने अपनी सुविधा के झूले डाल दिये थे। उन्हीं कुर्सियों में पैदा किये गड्ढों में सिर्फ़ उन्हें ही चैन मिलता था, हमें तो सिर्फ़ उसमें अपनी ज़िंदगी में उत्पन्न हुआ खोखलापन ही नज़र आता था। उन कुर्सियों पर बैठते हुए दहशत होती थी कि जाने कब किधर से उस कुर्सी का वारिस चला आये। कितना बेगानापन महसूस होने लगा था!

कितना कुछ था उस कमरे में जिसे याद किया जा सकता है! एक कोने से लगातार टूटता हुआ दीवार का चूना, दरवाज़ों की चौखटों पर स्याही के धब्बे। लोहे के पलंगों में टूटे, नीचे तक झूलते हुए स्प्रिंग, पानी की बूंदों से चित्रित आइना—कितना कुछ था, जिसे देख-देख कर बीतते समय का एहसास होता था। लगता था जैसे एक वर्ष न बीत कर कितने वर्ष बीत चुके हैं—कितना कुछ जी

चुके हैं—कितना कुछ भोग चुके हैं ! उस उमर में भी जीने का उत्साह न होकर सिर्फ़ जिज्ञासा रह गयी थी। जाने अब आगे और क्या-क्या होना है ? जाने और क्या-क्या जीना है ? हर उस जिज्ञासा के साथ जुड़ी हुईं दहशत। उसी दहशत से जुड़ा हुआ व्यतीत—आज और कल।

माँ अर्थात् मम्मी—बस इस शब्द से आगे हम लोग कभी नहीं लाँघे ! बल्कि धीरे-धीरे वह शब्द मुँह पर लाते हुए भी कई-कई बार सोचना पड़ता था कि क्या माँ मूड में भी हैं कि नहीं, और कि क्या उनके पास हमारी बात सुनने का समय भी है कि नहीं। उनका वेनिटी-बैग अगर टेबल पर नज़र आता तो समझते कि वह घर पर हैं और अगर बैग नहीं है तो वह भी नहीं हैं। और अगर वेनिटी-बैग घर पर है तो यह ज़रूरी नहीं था कि माँ घर में हमारे लिए ही हैं। यही लगता था कि कोई न कोई आने वाला है...कुछ न कुछ होने वाला है। इसी-उसमें हम धीरे-से घर से बाहर खिसक जाते थे। तेज़ धूप, होटल के खाली मैदान, सर्वेन्ट क्वार्टर्स, बेरी, गैलरी, होटल के किचन से क़तल होती मुर्गियों की चीख़-पुकार, धूल भरा आकाश और पैरों से टकराती लावारिस ईंटें...!

अपने-आप में फ़ुरसत पाकर जब कभी भी माँ हमें बटोरने निकलतीं तो हमारी जान सूख जाती। घुटने तक धूल से भरी टाँगें, बढ़े हुए नाखून, और सिर पर उलझे सूखे बाल माँ को सिर्फ़ तभी नज़र आते थे। घर तक लाते-लाते वह हमें मार-मार कर आधा कर देती थीं। लेकिन हमें सिर्फ़ यहाँ तक लाना ही उन्हें अपना धर्म लगता था। हमें याद है कि माँ ने समय-समय पर हमें यह ज़रूर बताया था कि हमारे लिए क्या-क्या ग़लत है लेकिन यह कभी नहीं बताया कि हमारे लिए क्या-क्या सही है। लेकिन शायद यह भी सच नहीं है—बहुत संभव है कि शायद वह अपने ही सही-ग़लत में गुम हो चुकी थीं...।

गुम क्यों न होतीं—नयी-नयी परेशानियाँ, हमारी, अपनी और अन्य लोगों की। इस सब के बीच में हम अपनी माँ को कभी यह नहीं समझा सके कि होटल के सामने हलवाई के शो-केस में चमकते बेसन के लड्डू हमें कितने पसंद हैं— शायद उनकी समझ में आ भी नहीं सकता था। इसीलिए हमारे और माँ के बीच बेसन के लड्डू का प्रसंग कभी नहीं आया।

फिर एक दिन डैडी आये थे। जाने किस बात पर इतना झगड़ा हुआ कि घर की ईंट से ईंट बज उठी।

लेकिन इस सबसे यह ज़रूर हुआ कि माँ ने हमारे लिए फैसला ले लिया था। हमें भी मसूरी के बोर्डिंग में भर्ती कर दिया गया। ज़िंदगी में नयी फ्राकें, कमीज़ें, कच्छे और निकरें शायद हमने इसी तरह देखनी थीं। इसके साथ-साथ नयी पुस्तकें—हर तरह से वह हमारे लिए नयी पुस्तकें थीं। विश्वास ही नहीं होता था कि वे पुस्तकें हमारे लिए थीं और कि हमारी अपनी थीं। कितनी वार एक ही

दिन में हमने उन्हें निकाल-निकाल कर देखा था। लेकिन माँ का अचानक हमें इस तरह दूर आकर रातों-रात छोड़ जाना कहीं बहुत भयावह भी लगा। लंबा-चौड़ा स्कूल! कोरीडोर्स, पारलर चैपेल और विजिटिंग रूम्स ने कहीं हमें बहुत प्रभावित भी किया। लंबे-लंबे गाऊन पहने मदर्स और फादर्स—एक पूरा प्लेइंग-ग्राउंड, कितने खुले-खुले क्लास रूम्स! एक नयी दुनिया ही थी। एक ऐसी दुनिया जो सिर्फ़ बच्चों की ही थी। जो सिर्फ़ बच्चों के लिए ही बनी थी। वहाँ सुबह से शाम मदर्स-फादर्स सिर्फ बच्चों को ही सँभालने-सँभालने में निकाल देते थे। सुबह होती थी तो 'गुड मार्निंग चिल्ड्रेन', दोपहर होती थी तो 'गुड आफ्टरनून चिल्ड्रेन', शाम होती थी तो 'गुड इवनिंग चिल्ड्रेन', रात होती थी तो 'गुड नाइट चिल्ड्रेन'। मानो वहाँ सुबह सिर्फ़ बच्चों के लिए चढ़ती थी और रात भी सिर्फ़ बच्चों के लिए ही ढलती थी।

वहाँ का कार्यक्रम इतना ज़्यादा नियमित था कि कभी-कभी आश्चर्य होता था कि क्या हम बच्चे भी दिन-भर इतने व्यस्त रह सकते थे—ममी-डैडी के अतिरिक्त भी क्या जीवन में कुछ लोग आपके जीवन में इतनी दिलचस्पी ले सकते थे! आपके एक-एक शौक और प्रत्येक प्रकार की तकलीफ़ में हिस्सा ले सकते थे! लेकिन इन सब सुखों के बावजूद कहीं मन में इतना दुःख-दर्द था कि तन से हम वहाँ ज़रूर थे, लेकिन मन हमारा अभी भी वहीं, उस घर की खिड़कियों, दरवाज़ों से अंदर झाँकता-सा लगता था। पता नहीं क्यों उस घर से दूर, बहुत दूर जाकर भी उस घर का माहौल यहाँ भी हमारा पीछा करता-सा लगता। कोई ऐसा क्षण नहीं आता था, जब हम अपने-आपको बीते अतीत से मुक्त करके जी सकते थे। एक ऐसा अपराधी जो जहाँ भी जाता है उसका भूत उसका पीछा करता रहा है और चैन नहीं लेने देता। एक अजीब-सी बेचैनी, एक अजीब-सा उखड़ापन—कभी-कभी लगता कि ममी-डैडी से अब कभी भी ज़िंदगी में मुलाक़ात नहीं हो सकेगी। पता नहीं क्यों ऐसा लगता था कि शायद वह दोनों अब हमें भूल भी गये होंगे। इसके साथ-साथ यह भी लगता कि डैडी को तो पता भी नहीं चला होगा कि हम लोग कहाँ हैं। क्योंकि न डैडी ने पूछा होगा और न ममी ने बताया ही होगा। कितना अजीब-अजीब-सा लगता था यह सब सोच-सोच कर!

संडे को सभी बच्चे क्लास रूम में होमवर्क करने से पहले अपने ममी-डैडी को चिट्ठी लिखा करते थे। हमें भी लिखनी पड़ती थी। लेकिन क्या...? हमें समझ में ही नहीं आता था कि उन्हें क्या लिखें। यहाँ क्या-क्या होता है और हम लोग कैसे रहते हैं, इसमें उन्हें क्या दिलचस्पी हो सकती है? बाकी के बच्चे एस्से कम्पीटीशन, मैजिक शो, हार्स राइडिंग, समरी—ऐसी-ऐसी बातें लिख कर सफ़े पर सफ़े रँगते जाते थे, लेकिन हमें यह समाचार अपनी ममी को लिखते कहीं बहुत फ़िज़ूल लगता था। इसके अतिरिक्त यह भी संदेह था कि क्या उनके पास इतना

समय होगा कि दो-दो बच्चों की चिट्ठियाँ बैठ कर पढ़ें और वह भी इतनी व्यर्थ-सी ! कितनी बार हमारी मदर ने हमें टोका भी कि हमने अपनी माँ को पिछले सप्ताह में हुई एक्टीविटीज़ का सारा व्यौरा क्यों नहीं दिया...और कहा कि हमारी मेमोरी और लेटर-राइटिंग बहुत ही पुअर है । कुछ भी स्कूल में होता था तो हमारे दोस्त कहते थे— 'ओह लार्ड, आई मस्ट नॉट फारगेट टू राइट टू माई पैरेंट्स । दे विल बी डैम्ड थ्रिल्ड ।' हम उनके उत्साह को देख कर कट-से जाते ।

सबसे ज़्यादा सुख तो मुझे चैपेल में मिलता । गहरा अँधेरा—और उस अँधेरे में टिमटिमाती हज़ारों मोमबत्तियाँ । उन मोमबत्तियों में चमकता क्रॉस पर लटका हुआ ईसामसीह । पता नहीं क्यों क्रॉस पर लटके ईसा को देख कर कहीं बहुत सुख मिलता था । कितना चाहती थी कि घंटों वहाँ बैठी रहूँ...लेकिन यह संभव नहीं था । जब-जब घर के तूफ़ान दिमाग़ में हथौड़े चलाते थे मुझे क्रॉस पर लटका ईसा सकून देता था । कोरीडोर्स, पार्लर, डारमेट्री में लटकी मरियम ईसा को गोद में लिये, गड़रिये से घिरी बहुत ही अच्छी लगती थीं !

उन तबेलों में जाकर रहने को मन हो आता था जहाँ मरियम ने ईसा को पाला था । चित्रों को देख कर मैं इतना गुम हो जाती कि कल्पना ही कल्पना में उन खेतों में चक्कर काट आती थी । सोचती थी कि क्यों नहीं हमारी माँ मरियम होती और मैं भी उन्हीं तबेलों में उन्हीं गड़रियों के बीच रहती ! तब शायद ज़िंदगी कितनी विपरीत होती ! लेकिन...'टन' चर्च का घंटा बजता और पता चलता कि चर्च से बाहर निकलने का समय हो गया है ।

कानवेंट में एक वर्ष पूरा हो रहा था । साल का अंत और नये साल का इंतज़ार भी अपने में एक बात होती है । ऐसा हमारा यह पहला अनुभव था । एनुअल स्पोर्ट्स डे ओलिंपिक्स, फेट, क्रिसमस और डांस-नाईट भी अपने में एक और ही अनुभव थे । इसके साथ-साथ एनुअल रिपोर्ट्स का अपना अलग ही एक्साइटमेंट था । और सबसे अंत में बौन-फ़ायर जिसमें साल का कूड़ा जलाया जाता था, और नये साल का इंतज़ार शामिल था...कारिडोर्स और स्टेयर-केसेस में बैठे बच्चे सिर्फ़ घर जाने के दिन गिना करते...एक-दूसरे से फेयरवैल गिफ्ट्स एक्सचेंज किया करते । लेकिन हम लोगों का अजीब हाल था । कुछ पता ही नहीं चल रहा था कि सब हो क्या रहा है । जैसे अचानक नींद खुली हो और पता चला कि अब घर जाना है । लेकिन क्यों और किस लिए ! और जब कि हमें यह भी विश्वास नहीं था कि जिस हाल में हम घर छोड़ कर आये थे, क्या उतना शेष भी अब तक बचा होगा ? और, क्या अब वह हमें और हम उसे स्वीकार कर पायेंगे...? बहरहाल, घर तो जाना ही था । यह घर जाना भी कितन[illegible] .ड़ा पहाड़

था सिर पर... बाप रे बाप !

बक्सों में ताले लग चुके थे और होल्ड-आल के पट्टे कसे जा चुके थे। वहाँ से अब जाना ही है, यह बात अब गले तक आ गयी थी। डोरमेट्री खाली और वीरान हो गयी थी और खाने को आ रही थी, लेकिन जाने क्यों मन फिर भी हरामी हो रहा था। डोरमेट्री से खिड़की का परदा हटा कर देखा, नीचे बच्चों को गले लगा-लगा कर मदर्स-फादर्स सुबक-सुबक कर रो रहे थे। मन पहले ही इतना भरा हुआ था कि यह देख कर इस क़दर फूट-फूट कर रोयी कि जैसे कलेजा बाहर आ जायेगा। थोड़ी देर में नीचे से बुलावा आया, शायद बस चलने वाली थी। आकर मदर के गले ऐसे लगी जैसे अब कभी अलग नहीं होऊँगी। माँ से अलग होने के दिन भी लगा था कि पता नहीं अब कभी वापस जाऊँगी या नहीं। ठीक उसी तरह आज भी लग रहा था कि पता नहीं अब यहाँ वापस आयेंगे या नहीं। कितनी सेंस आफ इनसेक्योरिटी में जीते थे ! (आज अगर कोई चीज़ है तो कल ज़रूर छिन जायेगी ! उस कल की दहशत में आज भी गँवा देना और सिर्फ़ इसीलिए आज की चीज़ से नहीं चिपकते थे कि वह बहुत सुहावनी होती थी, सिर्फ़ इसलिए कि हमारे लिए जो भी है, वही है—इसके अलावा और कुछ भी नहीं है।)

रेलगाड़ी की वह रात बाक़ी रातों से कितनी भिन्न थी ! कितनी रातों के बाद मैंने अपने आपको उस होस्टल में बिताने वाली आगे की रातों से मिलता जोड़ी थी ! डोरमेट्री पर पड़ी टीन की छतों पर ओलों और पानी के संगीत को अपने जीवन का एक हिस्सा मान लिया था। कितनी-कितनी रातें जागते-जागते मैंने अकेले उस संगीत को सुना था, उसे जीया था—उसे महसूस किया था ! कितनी-कितनी बार उसी टीन की छत पर चढ़ जाने की लालसा को अपने अंदर ही खत्म कर दिया था ! उन दिनों यही लगा करता था, क्या कभी मैं उस संगीत (लोरी) के बिना सो पाऊँगी ? फिर वही दहशत घेर लेती थी कि एक दिन यह सब भी छिन जायेगा। ठीक वैसी ही उस दिन रेलगाड़ी की वह रात मानो बीती रातों को भुला कर आने वाली रातों की चेतावनी-सी देती लगती थी। सारी रात उस गाड़ी की बजती धौंकनी के साथ जद्दोजहद करने में निकल गयी।

सुबह चाय गले के नीचे नहीं उतर रही थी। माँ से मिलने में अब कुछ क्षण ही रह गये थे। पता नहीं क्यों लग रहा था कि माँ से नज़रें नहीं मिला पायेंगे। पर क्यों—यह नहीं समझ में आ रहा था। गाड़ी अब बहुत धीरे-धीरे धचके खा रही थी···पता नहीं कब रुक जाये ? फिर...!

गाड़ी अब रुक चुकी थी। प्लेटफार्म पर खचाखच भीड़ थी। भटकती आँखें और गुलदस्ता लिये हुए चेहरे—बस यही याद है। भीड़ छितरने में बहुत देर लगी थी क्योंकि गहमागहमी कुछ ज़्यादा ही थी। मुझे अच्छी तरह याद है माँ का चेहरा ! रात के बँधे जूड़े में भी माँ बहुत सुंदर लग रही थीं। साड़ी और

ब्लाउज़ किस रंग का था, यह अच्छी तरह याद नहीं है। लेकिन इतना कह सकती हूँ कि यदि हमारा उनसे कोई सीधा संपर्क न होता तो वह हमें हमेशा सुन्दर और आकर्षक लगी थीं।

ममी, पुष्पा-आंटी, विनोद-प्रमोद और हम दोनों उनकी मोटर में एक साथ ही घर आये थे। पहला दिन बहुत ही अच्छा निकला था। शायद इसलिए कि इसकी हमें उम्मीद नहीं थी। माँ बहुत अच्छी तरह पेश आयी थीं। उन्होंने पास सटा कर प्यार भी बहुत किया था। बाद के दिनों में भी माँ तो वैसी ही रहीं, लेकिन पता नहीं क्यों घर का सारा वातावरण बहुत घुटा-घुटा-सा लगता था। माँ पीछे से कैसे रहीं, उनके साथ क्या-क्या हुआ...डैडी कहाँ हैं, कैसे हैं, इसका हमें थोड़ा भी अंदाज न हो सका। सब हमारे लिए एक राज़ था। इसके अलावा हम में भी इतनी हिम्मत नहीं थी कि कभी डैडी के बारे में माँ से पूछ ही लें। यह नहीं कि माँ ने हमें ऐसा कुछ मना किया हुआ था। हम चाहते तो पूछ भी सकते थे लेकिन पता नहीं क्यों हमसे पूछा ही नहीं गया। शायद इसलिए कि हमें यह नहीं मालूम था कि सब कुछ पता चलने पर कहीं अच्छा नहीं लगेगा—और फिर माँ भी कितनी दुःखी होंगी!

हम यह कभी नहीं समझ सके कि ममी-डैडी एक-दूसरे से किस कारण अलग हुए। इसलिए कि डैडी बुरे थे या कि ममी बुरी थीं। और अगर दोनों बुरे थे तो किस तरह से बुरे थे, हमें तो दोनों ही अपने-अपने में कहीं बहुत अच्छे लगते थे, लेकिन उसके साथ-साथ यह भी सच है कि उन दोनों को एक साथ बैठे, एक साथ खाते और एक होकर जीते हमें अब कहीं बहुत अटपटा लगता, क्योंकि एक भी ऐसा क्षण या हादसा हमें याद नहीं है जिसके कि हम गवाह रहे हों! और अगर कहीं हमारे घर में ऐसा कभी शुरू भी हो जाता तो सच ही हमें भी उसकी आदत डालने में ज़रूर कुछ समय लगता।

माँ की बातों से हमें यह ज़रूर पता चल गया था कि उन्होंने हमारे लिए अपने दफ्तर से दो महीने की छुट्टियाँ ली हुई थीं। लेकिन इन छुट्टियों में भी हमने माँ को अधिक समय लिखते-पढ़ते ही पाया। उनके परिचित हमें लगा कि पहले से बहुत कम आया-जाया करते थे।

एक दिन माँ ने हम से अचानक पूछ लिया कि 'क्या हम डैडी से मिलना चाहेंगे?' इस प्रश्न से हम अवाक ज़रूर हो गये, लेकिन इसका असर चेहरे पर नहीं आने दिया। फिर भी मुँह से यह ज़रूर निकल गया—"क्या डैडी हमसे मिलना चाहेंगे?" माँ भी ज़रूर इस प्रश्न से अवाक हो गयी होंगी, लेकिन उन्होंने भी अपने चेहरे पर उसका असर नहीं आने दिया। माँ ने बहुत देर बाद सहज होकर एक हल्की-सी मुस्कराहट चेहरे पर लाकर कहा, "हाँ, हाँ, क्यों नहीं?" लेकिन पता नहीं क्यों, डैडी मिलने नहीं आये। कारण क्या था, यह हमें नहीं पता

चला, लेकिन उस दिन के बाद फिर माँ और हमारे बीच डैडी का प्रसंग नहीं उठा।

माँ हमारे साथ बहुत अच्छी रहीं। हमारे मन का खाना बनातीं और हमें गाहे-बगाहे कहानी सुनाया करतीं। कभी-कभी बाहर घुमाने भी ले जातीं और इधर-उधर की बातें भी करतीं। स्कूल के बारे में भी पूछतीं। एक दिन पता नहीं क्यों, उन्होंने हमसे पूछ लिया कि हमें घर में रहना अच्छा लगता है कि होस्टल में। हमें समझ नहीं आ रहा था कि हम क्या कहें, लेकिन जल्दी ही मुँह से निकाल दिया, "जहाँ भी आप रखना चाहें रख दें।" पता नहीं क्यों इस बार भी, माँ का इतना प्यार और स्नेह मिलने के बावजूद भी हम माँ से दिल की कोई बात नहीं कर सके। एक दूरी और परायापन बना ही रहा।

फिर एक दिन प्रमोद-विनोद और हम दोनों पुष्पा-आंटी के घर खेलने के लिए जा रहे थे तो माँ ने बुला कर कहा कि एक पत्रिका पुष्पा-आंटी के लिए ले जायें। कहानी जो विशेष रूप से पढ़ने के लिए थी, वह उन्होंने मुझे ज़बानी बता दी थी। मैं पूरे रास्ते रटती जा रही थी—मोहन राकेश की 'एक छोटी-सी चीज़'...मोहन राकेश की 'एक छोटी-सी चीज़।' मुँह से बोलते-बोलते मैंने पत्रिका पुष्पा-आंटी की गोद में डाल दी। मुझे यह वाक्य इस तरह रट गया था कि रात को मैंने माँ से पूछ लिया—'एक छोटी-सी चीज़' कहानी का नाम कैसे हुआ? तब माँ ने हमसे पूछा कि क्या हम जानना चाहेंगे। यह कहानी है भी सिर्फ़ बच्चों के सुनने के लिए ही। माँ ने फिर हमें बहुत ही स्नेह और दुलार से वह कहानी सुनायी थी। हमें भी कहानी बहुत ही पसंद आयी थी, क्योंकि कहीं पर वह कहानी हमें अपनी ही कहानी लगी थी। दो-तीन रातें हम लगातार माँ से वही कहानी सुनते रहे। अंत हमें उस कहानी का हर बार हँसा देता। उसके बाद माँ ने उसी लेखक की एक और कहानी सुनायी, जिसका नाम 'एक पंखयुक्त ट्रेजडी' था। यह कहानी भी पता नहीं क्यों दिल को बहुत छू गयी। उसका अंत आता तो मन कहीं बहुत बहुत उदास हो जाता था। उस उमर में भी पहली बार हमें यह लगा कि कितना कुछ एक कहानी के ज़रिये आदमी कह सकता है। इसके बाद हम माँ से हमेशा ऐसी कहानियाँ सुनने के लिए मचलते। माँ वादा पूरा करतीं। उन्होंने हमें जैनेंद्र की 'पाजेब' भी सुनायी थी। वह भी हमें बहुत ही पसंद आयी थी। धीरे-धीरे हम 'बूढ़ी काकी,' 'ताई,' 'उसने कहा था,' 'पुरस्कार,' 'रोज़' तक पहुँच गये थे।

इस तरह हर साल जब हम छुट्टियों में घर आते तो कहानियों का स्तर बढ़ता जाता। धीरे-धीरे 'विप्रदास,' 'अनुपमा का प्रेम,' 'त्यागपत्र,' 'इंसान के खण्डहर,' 'आखिरी चट्टान' तक सुनने लगे थे। हिंदी पढ़ने का स्तर हालाँकि कानवेंट की वजह से गिरता गया, लेकिन हिंदी साहित्य और साहित्यकारों से थोड़ी बहुत जान-पहचान ज़रूर होती गयी।

मुझे अच्छी तरह याद है कि 'मोहन राकेश' का नाम ममी और पुष्पा-आंटी के

मुँह पर अब अधिक आया करता था। इस तरह 'श्री मोहन राकेश' के नाम से मैं आठ वर्ष की आयु में ही परिचित हो गयी थी। आज कभी-कभी यह सोच कर भी आश्चर्य होता है कि इतने बचपन में एक व्यक्ति का नाम सुनते-सुनते जब बड़ी हुई तो पाया कि वह व्यक्ति मेरे बिलकुल सामने खड़ा है !

इसी सिलसिले में एक बात और याद आयी। हमारी माँ अपनी छोटी बहन के लिए अर्थात हमारी मौसी के लिए वर ढूँढ-ढूँढ कर थक चुकी थीं। कितने ही लोगों से उन्होंने कह भी रखा था, लेकिन जितने भी देखे उनमें से कुछ हमारी मौसी को पसंद नहीं और कुछ ने हमारी मौसी को ही पसंद नहीं किया। उन दिनों डैडी ने भी लगभग घर में रहना शुरू कर दिया था। उन्होंने भी अपनी तरफ़ से कोई कसर नहीं छोड़ी थी, लेकिन मौसी थीं कि क्वाँरी ही बैठी थीं। वह मिराण्डा कॉलेज से ग्रेजुएट थीं और शायद यही उनसे भूल पाना असंभव हो रहा था। बहरहाल, घर में तो क्राइसिस आ ही गया था। अब क्या होगा—यही सोच-सोच कर मौसी पूरे चौबीस साल की हो गयी थीं—क्वाँरी की क्वाँरी ही !

एक दिन शाम को सभी घर पर थे। जगदीश पापाजी, हमारी कमला मौसी, डैडी और हम दोनों जो कि बारह-बारह, तेरह-तेरह वर्ष के हो गये थे (यहाँ यह भी बता दूँ कि भाई में और मुझमें सिर्फ़ एक वर्ष का अंतर था। भाई मुझसे एक वर्ष बड़ा था)। सभी शाम को बैठे चाय पी रहे थे कि हमारी माँ सहसा बोल उठीं, "अगर कमला के लिए कोई लड़का नहीं मिलता तो मैं उसकी शादी 'मोहन राकेश' से करवा दूँगी।" हम सब लोग अवाक उन्हें देखते रह गये। थोड़ी देर में डैडी बोले, "तुम तो ऐसे बोल रही हो जैसे तुम उसे अच्छी तरह जानती हो और उसी ने तुम से तुम्हारी बहन माँगी है। तुम्हें क्या मालूम है कि वह देखने में कैसा है और उसकी शादी हुई है या कि नहीं और कि उसके कितने बच्चे हैं ? उसकी कहानियाँ पढ़ीं और समझा सब कुछ जान लिया तुमने। बस...!" डैडी की बात ठीक ही थी। मोहन राकेश उन लेखकों में से थे जिनसे माँ अभी तक नहीं मिल पायी थीं। उन दिनों शायद राकेश जी जालंधर-शिमला और फिर जालंधर में ही ज़्यादातर रहे थे। उन्हीं दिनों में उनकी कहानियाँ 'मंदी,' 'मलबे का मालिक,' 'फटा हुआ जूता', 'आखिरी सामान', अर्थात 'नये बादल' कहानी-संग्रह छपा था। हमें याद है कि एक बार जब माँ ने किसी से पूछा था कि 'राकेश' लगते कैसे हैं तो जवाब मिला, "गोरा रंग, क़द छोटा, घुँघराले बाल और आँखों पर चश्मा, उम्र पच्चीस वर्ष...कुछ मिला कर एक खूबसूरत नौजवान !" उस समय किसी के द्वारा दिया गया राकेश जी के बारे में यह व्यौरा मैं आज तक नहीं भूल पायी। हालाँकि बाद में भले ही मैंने उन्हें कितना अधिक जाना और पहचाना, लेकिन फिर भी पहला परिचय यद्यपि ज़बानी था, लेकिन था तो पहला ही, जिसका मेरे लिए एक अपना अलग ही महत्व रहा है।

क्षमा कीजिये, मैं लिखते-लिखते भटक जाती हूँ। लिखना कुछ होता है और लिख कुछ जाती हूँ। हमारे घर ने और क्या-क्या रंग बदले, यह मैं आपको बताना ही भूल गयी। घर की तनातनी ने कहीं अंदर से मुझमें जीवन के प्रति आक्रोश उत्पन्न कर दिया था। मैंने कभी भी बच्चों की तरह हँस के उन्मुक्त होकर, भोला रह कर नहीं देखा। इस उमर में भी मेरे दिमाग़ ने ज़रूरत से ज़्यादा और अपनी उमर से आगे सोचना शुरू कर दिया था। नतीजा बच्चों में बैठ कर कभी बच्चे नहीं रहे और बड़ों में बैठ कर कुढ़ते और सड़ते रहे। इसके अलावा हमारी माँ, बेटा और बेटी में भी बहुत फ़र्क़ करती थीं। माँ को मेरा भाई हर तरह से मुझसे ज़्यादा बेहतर लगता था। और कुछ न भी हो तो उसका 'लड़का' होना ही उन्हें एक बहुत बड़ी लियाक़त लगती थी। 'वह यह काम कर सकता है क्योंकि वह लड़का है। वह हँस सकता है क्योंकि वह लड़का है। वह खेल सकता है क्योंकि वह लड़का है...।' अर्थात् वह सब कुछ कर सकता है क्योंकि वह लड़का है। मैं कुछ नहीं कर सकती क्योंकि मैं लड़की हूँ। मैं इतना सड़ियल और ज़िद्दी हो गयी कि माँ तक मुझे कहती थीं कि मैं कुढ़-कुढ़ कर मर जाऊँगी। मैंने इस बात का हमेशा ख़याल रखा कि मैं माँ-बेटे के प्यार में बाधा न बनूँ, लेकिन इससे भी बात समाप्त नहीं हुई। जैसे-जैसे मैं बढ़ती गयी, मैं माँ के लिए समस्या बनती गयी। मेरे मन में यह बात इतना घर कर चुकी थी कि माँ के लिए तो मैं समस्या हूँ ही, अब अपने-आपको भी एक बोझ लगने लगी थी। बचपन में माँ ने प्यार नहीं दिया और अब मेरे भविष्य के बारे में सोच-सोच कर दुःखी होती रहतीं। उनके दुःख से जो दुःख मैं पाती, वह बहुत असहनीय था। घर में मेरी मौजूदगी उनके लिए एक साये से कम नहीं थी। मैं कोशिश करके अपने-आपको तो छुपा सकती थी, लेकिन अपने साये को नहीं। इसके अलावा मैं अब माँ के लिए बहुत बड़ी बंदिश भी थी। वह खुद कहीं आज़ादी से आ-जा नहीं सकती थी, न मुझे ही साथ ले जा सकती थीं। कहीं चली भी जाती थीं तो भाई का पहरा लगा कर जातीं। परिणामस्वरूप भाई के हाथों भी बहुत झेला। उसकी कोई शिकायत मैं माँ तक नहीं पहुँचा सकती थी, क्योंकि वह लड़का था, सब कुछ कर सकता था। उसकी अक़्ल पर माँ को बहुत भरोसा भी था। माँ को मेरा सहेलियों के साथ बाहर आना-जाना पसंद नहीं था। उनके साथ ऊँचे-ऊँचे हँसना पसंद नहीं था। इसी से मेरी कोई सहेली नहीं थी—स्टूल पर बैठ कर खिड़की से बाहर झाँकना—और अगर कोई सहेली आ जाये तो खिड़की के नीचे छुप जाना, जिससे भाई यह कह सके कि मैं घर पर नहीं हूँ। कानवेंट में पढ़ाने के बावजूद उन्हें मुझसे शिकायत थी कि मैं 'ऐंगलीसाइज़्ड' क्यों हूँ? हमें अपनी हिंदू संस्कृति के बारे में कुछ भी क्यों नहीं पता? हमें अंग्रेज़ी नावेल्स अर्थात् डर्टी लिटरेचर छोड़ कर हिंदी साहित्य अर्थात् फ़ाइन लिटरेचर पढ़ना चाहिए। लोगों के बच्चे हमारे लिए आदर्श थे। खासतौर से बताया जाता

था कि देखो फलाँ के बच्चे कितने अच्छे हैं जिसके जवाब में एक बार जब मेरे मुँह से यह निकल गया कि फलाँ के माँ-बाप देखो कितने अच्छे हैं, तो मुझे माँ ने छोड़ा नहीं था। कहीं पर अगर किसी के घर ज़्यादा देर हो जाती थी तो पीछे-पीछे पहुँच जाती थी। वहाँ तो जो बेइज़्ज़ती करती सो करती थीं, सारे रास्ते चिल्लाती-चिल्लाती घर लातीं और घर आकर तो पूछो नहीं। किसी भी बात के लिए अगर आगे से अपनी सफ़ाई देती तो उसे ज़बान चलाना माना जाता था। अपनी ज़िंदगी की पूरी फ्रस्ट्रेशन उनकी मुझ पर ही निकलती। लेकिन इससे उनकी समस्या हल नहीं हुई। यही एक अफ़सोस हम दोनों को बना रहा।

कोइ चांस था कि जब हमने स्कूल ख़त्म किया। डैडी का नया व्यापार पूरा जम चुका था और डैडी-ममी साथ-साथ रहने भी लगे थे। साथ-साथ एक बच्चा और घर में आ गया था। वह थी मेरी छोटी बहन। दूर बैठे रिश्तेदार तक यह मानने को तैयार नहीं थे कि चौदह वर्ष के लंबे अंतराल के बाद अर्थात् मेरे बाद आज उस घर में एक और बच्चा पैदा हुआ है। लेकिन यह सच था कि ममी-डैडी अपना चौदह वर्ष का वनवास पूरा कर चुके थे।

उस नये बच्चे के घर में आने के बाद हमारे घर ने सच ही हर तरीके से नया रूप ले लिया था। डैडी, डैडी लगते थे। ममी, ममी लगती थीं। विशेष तौर से बच्चे को दूध पिलातीं तो लगती ही थीं––नया-बड़ा घर ले लिया था जिसमें एक नौकर भी शामिल था। माँ ने अपनी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया था और उनकी फुल-टाइम हाउस-वाइफ की एप्लीकेशन मंजूर हो चुकी थी। सबके लिए और ज़्यादातर मेरे लिए तो छोटी बहन ही बहुत बड़ा डाइवर्ज़न थी। यों भी एक छोटे बच्चे का घर में आना हम सबके लिए एक नया और अनूठा अनुभव था। घर में सभी को उस बच्चे से बहुत स्नेह और दुलार मिला। इस तरह से भाई और छोटी बहन हमारे मम्मी-डैडी के चाँद और सितारे थे। मैं इन दोनों नक्षत्रों के मुक़ाबले इतनी कम रोशनी देती थी कि परिणामस्वरूप न तो कोई उस नक्षत्र को पहचान ही सका और न ही उसे कोई नाम ही दे सका। यों भी वह ज़ाहिर था कि मेरे पैदा होने के बाद क्या-क्या नहीं हुआ। पार्टीशन हुआ...घर में ग़रीबी आयी और घर बिखर गया। छोटी बहन आयी पार्टीशन जुड़ गया...अमीरी आयी और घर सुधर गया। जहाँ यह सब कुछ सच था, वहाँ उससे ज़्यादा सच यह था कि बहन बहुत सुंदर, प्यारी और गलगोदनी थी। उससे खेलते, नहलाते और दूध पिलाते समय ही मज़ा आता था। ज़िंदगी में अगर किसी चीज़ से कहीं कोई फ़र्क़ पड़ा था तो वह छोटी बहन ही थी।

स्कूल पास करने के बाद अब समस्या मेरी आगे की पढ़ाई की थी। भाई लड़का था, उसे किरोड़ीमल कॉलेज में जगह मिल गयी। लेकिन लड़की होने के नाते माँ को मेरे लिए पंजाब यूनिवर्सिटी से ज़्यादा सेफ़ और कोई यूनिवर्सिटी नहीं

लगी (भला हो पंजाब यूनिवर्सिटी का जिसने मेरा उद्धार तो किया !) । माँ ने साथ जाकर पास की एक प्राइवेट अकादमी में मेरा शरीफ़ों की तरह एडमिशन भी करा दिया। इसके साथ-साथ शामें गुज़ारने के लिए उन्होंने मुझे कत्थक नृत्य सीखने के लिए एक डांस स्कूल में भी भर्ती करा दिया (गुरू जी को वह अच्छी तरह टोह आयी थीं ।) । माँ का कहना था कि लड़कियों को हर समय बिज़ी रहना चाहिए नहीं तो उनका दिमाग़ दूसरी तरफ़ भटकता है। अगर क्रिकेट-कमेंट्री सुनती तो हाथ में आकर कसीदा पकड़ा जातीं, अगर कभी पलंग पर लेटे छत की तरफ़ एकटक देख रही होती तो आकर हाथ में कोई क्लासिक पकड़ा जातीं। उन्होंने अपनी तरफ़ से मुझे ऐसा एक भी मौक़ा नहीं दिया कि जिससे मैं ज़िंदगी में कहीं फिसल सकती। न यूनिवर्सिटी के मामले में, न क्रिकेट-कामेंट्री में ही, और न छत पर एकटक देखने में ही उन्होंने कोई चांस दिया। उनका कहना तो यहाँ तक है कि उन्होंने मेरे पीछे अपनी ज़िंदगी तक गला दी। डैडी का अपना अलग ही एक तरीक़ा था। अगर वह मुझे किसी बात के लिए टोकना चाहते तो खुद नहीं बल्कि मेरी माँ के कान भरते। अगर मैं छत की कड़ियाँ गिनती पायी जाती तो जाकर माँ से कहते। फिर माँ झाँकने आतीं। अगर डैडी यह कहते कि वह खिड़की से बाहर बहुत झाँकने लगी है तो माँ अपनी तसल्ली करने आतीं और अगर यह पता चलता कि मैं कोर्स की किताब न पढ़ कर कोई नावेल पढ़ रही हूँ तो यह चैक करने आतीं कि उस नावल की हीरोइन किसी हीरो के साथ तो नहीं भागने वाली है।

इस सबके बावजूद आप जान कर हैरान हो जायेंगे कि सत्तरह वर्ष की आयु में मेरा पहला प्यार हो गया था। इसके पीछे भी एक लंबी कहानी है। मेरी एक भाभी मुझसे बहुत स्नेह करती थी—आज भी करती हैं—उनकी बड़ी इच्छा थी कि मेरी शादी उनके सगे इकलौते भाई के साथ हो जाये। वैसे सच्चाई कुछ-कुछ बाद में पता चली कि ऐसी बात उस लड़के ने स्वयं अपनी बहन अर्थात् मेरी भाभी से की थी। भाभी जी ने बहुत तरीके से, धीरे-धीरे मेरे कान में, फिर ममी के कान में डालना शुरू कर दिया था। माँ काफी सतर्क हो चुकी थीं—ऐसा मैं नहीं जान सकी। बहरहाल, एक दिन उन्होंने मुझे उससे अकेले में बात करते देख लिया। माँ ने जब अगले दिन मुझसे बात की तो यह जान कर हैरान हो गयीं कि मेरे मन में तो उस लड़के से विवाह करने की कोई इच्छा नहीं है। बाद में जब लड़के को पता चला तो उसे विश्वास न हुआ। एक दिन बहुत रात गये वह मुझसे सिर्फ़ यही पूछने आया था कि क्या मेरा यह फ़ैसला अंतिम है, तो मैंने उससे कहा था---'हाँ, अंतिम है।' इसके बाद दो दिन में ही उसने किसी और लड़की से चाह-न-चाह कर विवाह कर लिया था। लेकिन यह सब जानते हैं कि उसने यह विवाह सिर्फ़ इसी जल्दबाज़ी में किया था कि मुझे साबित कर दे कि मुझसे विवाह न कर पाने से वह कुँवारा ही नहीं रह जायेगा। आगे जाकर इसी थीम पर आधारित मैंने 'न जाने

क्यों' कहानी लिखी थी जिसकी भूमिका राकेश जी ने दी थी और 'नयी कहानियाँ' का संपादन उन दिनों कमलेश्वर जी के हाथ में था।

बहरहाल, मैं फिर भटक गयी। कहने का मतलब सिर्फ़ इतना ही है कि इस कांड के बाद मेरे ऊपर और अधिक कड़ी नज़र रखी जाने लगी। भाई पर माँ की दयानतदारी का फल यह निकला कि प्रिप्रेटरी क्लास में उसके अच्छे नंबर नहीं आये थे और इसलिए यही सोचा गया कि मेरे साथ-साथ भाई भी पंजाब यूनिवर्सिटी से एफ० एस-सी० की परीक्षा दे दे। क्योंकि उम्मीद यही बाँधी गयी थी कि अगर एफ० एस-सी० में ही उसके अच्छे नंबर आ जायें तो उसे इंजीनियरिंग कॉलेज में भर्ती करा दिया जायेगा।

इधर घर की हालत फिर से बदतर होनी शुरू हो गयी थी। व्यापार फिर मंदा पड़ना शुरू हो गया था। डैडी ने सारे घर को वाइंड-अप कर दिया। ममी और बच्चों को उन्होंने जालंधर भेज दिया ताकि हम अपना एफ० ए० और एफ० एस-सी० पूरी कर आयें और स्वयं वह ग्वालियर चले गये जहाँ उन्होंने किसी और व्यक्ति के साथ व्यापार में नया भाई-चारा डाला था।

हम लोग जालंधर नवंबर, ५८ में गये थे और कोई चार-पाँच महीने वहाँ रहे थे। माँ को शायद याद रह गया था कि श्री मोहन राकेश उन दिनों जालंधर के डी० ए० वी० कॉलेज में हेड ऑफ़ हिंदी डिपार्टमेंट थे। उन्होंने जालंधर पहुँचते ही इस बात की पुष्टि करनी चाही, लेकिन उन्हें कॉलेज के प्रिंसिपल श्री सूरजभान से पता चला कि वह कुछ ही सप्ताह पहले वहाँ से रिज़ाइन करके दिल्ली चले गये हैं। माँ को बहुत तकलीफ़ हुई थी। उन्हें यह विश्वास हो गया था कि मोहन राकेश से उनका मिल पाना शायद हमेशा के लिए ही असंभव होगा। माँ जालंधर आयीं भी तो पता चला वह दिल्ली चले गये हैं और जब दिल्ली में थीं तो पता चला वह जालंधर रहते हैं। अजीब तकलीफ़ के साथ उन्होंने वह दिन जालंधर में काटे।

बहरहाल, हम लोगों ने परीक्षा दी और फिर उसके बाद दिल्ली न जाकर सीधे डैडी के पास ग्वालियर चले गये। इस तरह से माँ का राकेश जी से (दिल्ली में) मिल पाना कुछ समय के लिए और टल गया था। उन्हीं दिनों 'आषाढ़ का एक दिन' संगीत नाटक अकादमी का पुरस्कार पाकर बहुचर्चित हो चुका था। राकेश जी की फोटो को पहली बार देखने का सुअवसर...कुछ इस तरह से समाचार पत्रों द्वारा हमारी माँ को मिला। पुरस्कार राकेश जी को जिस वजह से भी मिला था, लेकिन हमारी माँ को कहीं यह विश्वास था कि उसके पीछे उनकी पैट्रोनेज का बहुत बड़ा हाथ है।

ग्वालियर में बिताया समय अपने दुःखों के बावजूद मेरे लिए एक मेमोरेबुल और

चेरिश्ड पीरियड था। मैंने एफ० ए० पास कर लिया था और 'फ़ॉर ए चेंज़' मुझे माँ ने ग्वालियर के कमला राजा कॉलेज में दाखिल भी करा दिया था। पहली बार मैंने जीवन में इस तरह की रेगुलर कॉलेज लाइफ़ देखी थी। भाई वहाँ के जिवाजी इंजीनियरिंग कॉलेज में भर्ती हो गया था। लेकिन वह अपनी आज़ाद ज़िंदगी का इस क़दर गुलाम हो गया था कि घर के सब लोगों की नाक में दम कर चुका था। फ्री-मिक्स लाइफ़ जिसमें रात-रात घर न आना शामिल था, उसकी ज़िंदगी का अंग बन चुका था। वह ग्वालियर आकर ही ऐसा नहीं हुआ था...बहुत पहले दिल्ली के किरोड़ीमल कॉलेज से ही उसने बदलना शुरू कर दिया था। लेकिन तब माँ ने उसे भी बेटा होने की अन्य क़ाबलियतों के साथ एक क़ाबलियत और मान ली थी और बाद में जब यह बात बढ़ते-बढ़ते इस मुक़ाम पर आ गयी तो उन्होंने इसका सारा दोष डैडी पर मढ़ना शुरू कर दिया, कि बाप की बच्चों पर रोक न रहने से ही बच्चे इस तरह बिगड़ गये हैं। फिर वही पुराने झगड़े कि बाप होने के नाते उस घर को उनसे कब-कब कौन-कौन-सी सेक्योरिटी मिली थी। या फिर अनाप-शनाप टूर पर बाहर निकल जाना—बस यही कार्यक्रम रहता। घर में फिर से ऐसी मनहूसियत आने लगी थी कि कभी-कभी लगता था कि भाई एक तरह से अच्छा ही करता है जो घर से ग़ायब हो जाता है। लेकिन इस तरह ग़ायब होने के परिणाम धीरे-धीरे ऊपर आने लगे। कई-कई लोग उसे पूछने के लिए घर आने लगे। उन लोगों की शक्लें और तौर-तरीक़े न मुझे ही पसंद थे और न माँ को ही। कई-कई घंटे वो बाहर खड़े उसकी इंतज़ार में ही निकाल दिया करते। माँ को यह अच्छा न लगता और वह मुझे भीतर के कमरे में बैठने के लिए कहतीं। जब सारे दिन वह घर न आता तो माँ का ग़ुस्से से बुरा हाल हो जाता और वह अपना ग़ुस्सा कभी मुझ पर, कभी डैडी पर निकालतीं। वैसे डैडी का भी इसमें कम दोष न था। उनकी अपनी अजीब ही आदतें थीं। आगे-पीछे बेटे के बारे में जाने क्या-क्या बकते, लेकिन बेटे के सामने आने पर मुँह फुलाये या तो अंदर जाकर लेट जाते या कोई अख़बार या पुस्तक उठा कर पढ़ने बैठ जाते। नतीजा यह हुआ कि भाई पर तो डैडी के इस इनडिफरेंस का कोई असर नहीं हुआ और अगर कुछ असर हुआ तो यह कि उसने डैडी से थोड़ा बहुत भी डरना छोड़ दिया था। माँ जितना उस पर चिल्लाती थीं या सज़ा भी देतीं, वह भी व्यर्थ ही जाता। वह अब किसी के बस का नहीं रह गया था। कितनी-कितनी रातें मैं देर तक उसके लिए खाना लिये बैठी रहती। कभी आ जाता, और कभी नहीं भी आता। जब-जब आता उसके आने का पता चल जाता। अपनी साइकिल के अगले टायर को वह सीधा घर के पिछले दरवाज़े पर ज़ोर से मारता। मैं दरवाज़ा खोलती तो उसके मुँह से तेज़ दुर्गंध मेरे सिर पर चढ़ जाती। मैं चाह कर भी उससे कुछ न पूछ पाती। चुपचाप खाना गर्म करके दे देती। अकसर चुपचाप खाना खाता और
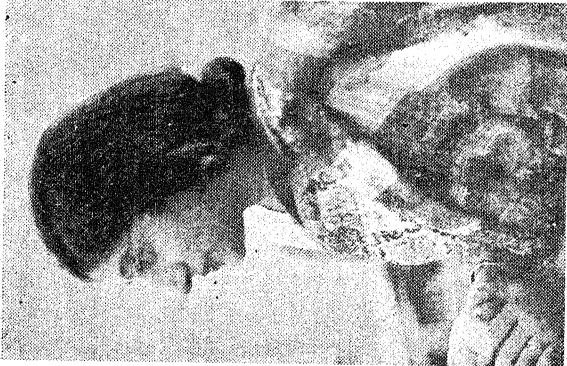
अनीता राकेश

अनीता : राकेश से प्रथम परिचय के वक्त
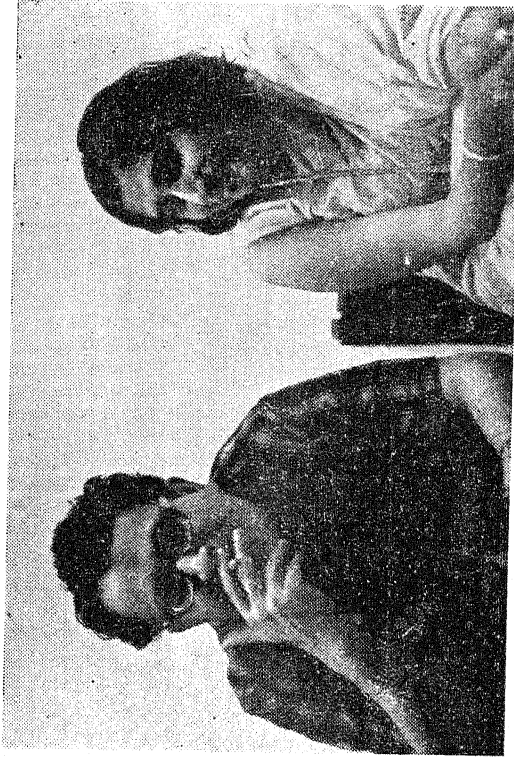
राकेश अनीता के साथ

मोहन राकेश भोगे हुए यथार्थ का लुत्फ़
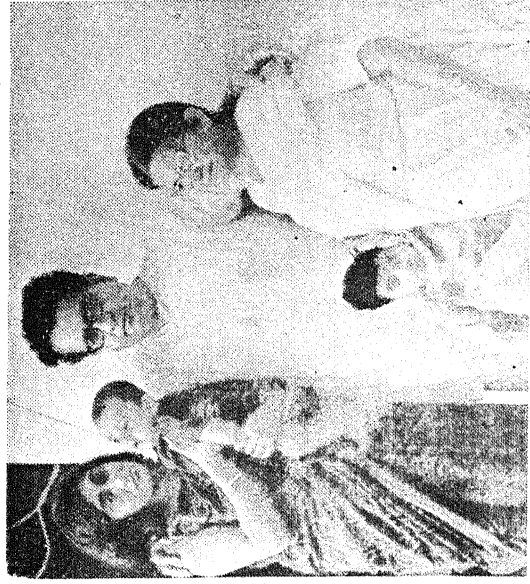
राकेश-परिवार में अनीता, शैली, राकेश, पुरवा और अम्मा

सो जाता। किसी-किसी दिन पूछ भी लेता कि कोई दिन में उसे पूछने तो नहीं आया था। जब मैं उसे 'हाँ' कहती और उस व्यक्ति का रूप-रंग समझाने लगती तो आगे से 'पता हैं', 'पता है' इतनी कैजुअली करता मानो कोई खास बात नहीं है, वह पहचान गया है। कई-कई बार मुझे शक होने लगता कि वह किसी गिरोह में तो नहीं फँस गया। लेकिन मेरा उससे ऐसा पूछने का कभी साहस नहीं हुआ। उसके मैले कपड़े और मिट्टी से सने पैरों को देख कर तकलीफ़ पाती। और कोशिश करके उसे इतना कह देती कि कम से कम अपनी सफाई का तो ध्यान रख लिया करे। वह हाँ-हूँ करके बात टाल देता। सुबह फिर उसी तरह, जैसे कि कॉलेज जा रहा हो वह अपनी पुस्तकें हाथ में लिये साइकिल पर हवा हो जाता। लेकिन कभी उसे टोकने या कुछ भी कह सकने का साहस न होता। ममी थीं कि चारों तरफ़ नज़रें दौड़ाने के बाद किसी न किसी वजह से मुझ पर ही बरस पड़तीं। मैं अगर आगे से कुछ कहती तो जो भी चीज़ सामने नज़र आती, मुझ पर बरसाने लगतीं। मुझे उस घर में कोई आदमी भी किसी तरह से नार्मल न नज़र आता। ऐसा लगने लगा था कि अगर मैं उसी घर में कुछ समय और रह जाऊँगी तो ज़रूर पागल हो जाऊँगी। लेकिन जाती तो कहाँ जाती ? कई-कई बार तो ऐसा भी हुआ कि रात-रात भर डैडी भाई के घर आने का इंतज़ार करके भी जब उसकी आहट पाते तो फट से बत्ती बुझा देते। मैं डैडी की हर तरह की बुज़दिली से तंग आ चुकी थी। उन्हें भी अगर कोई मिलने वाला आता तो उसे टाल जाते—अगर बेटे से बात करने का टाइम आता तो उसे टाल जाते। बीवी से बात करने के टाइम को तो वह कब का टाल ही चुके थे—और मुझसे—बहरहाल, मुझसे कोई बात करना तो कभी भी किसी गिनती में रहा ही नहीं था। लेकिन हाँ, जहाँ तक मुझ पर बरसने का सवाल था, उसकी धरातल तो मैं अपने ममी-डैडी दोनों के लिए हमेशा से ही रही हूँ। मुझे एक दिन की बात बहुत अच्छी तरह याद है। हमारे डैडी के नये पार्टनर मिस्टर गोयल थे। वे मेरे लिए बहुत महसूस भी करते थे। उन्होंने बहुत चाहा कि मेरी जल्दी से जल्दी कहीं शादी हो जाये। इसी से उन्होंने गोल-मोल बात बना कर डैडी से कह दिया कि मुझे उनका छोटा भाई बहुत पसंद है और मैं उससे शादी करना चाहती हूँ। बस फिर क्या था, यह डैडी की इज़्ज़त का सवाल था कि मैंने ऐसी बात खुल कर गोयल अंकल से की है। गोयल अंकल मेरे बारे में क्या सोचेंगे, यह कह कर उन्होंने मुझे लगातार सात रातें बेदर्दी से पीटा। मुझे भी कभी किसी विषय में कुछ कहना है, ऐसा मेरे ममी-डैडी के दिमाग में कभी नहीं आया। जहाँ तक मुझे याद है, उन्होंने मेरी ज़िंदगी के बारे में कभी भी मुझसे कुछ भी जानने की ज़रूरत महसूस नहीं की।

मेरी तो जो हालत थी सो थी, लेकिन उस सबके बावजूद मुझे अपने भाई की ज़िंदगी को देख कर जाने कैसा-कैसा लगता था। इधर आकर तो उसने गाहे-

बगाहे मुझसे पैसे भी माँगने शुरू कर दिये थे। मेरे पास कहाँ से पैसे आने थे, लेकिन एक बात पर मुझे हैरानी होने लगी थी कि अगर मेरे पास कभी दस पैसे भी होते तो वह वह भी ले जाता था। एक बार जब मैंने उससे पूछा कि दस पैसे का वह क्या करता है तो उसने जवाब दिया कि साइकिल के पंचर में काम आ जाता है। इसी थीम को लेकर मैंने 'पंचर' नाम की कहानी लिखी थी। मेरी अंतिम कहानी 'दिन से दिन' का भी थोड़ा-बहुत यही धरातल था।

मैं फिर भटक गयी। कहने का मतलब सिर्फ़ इतना ही है कि जब साल के अंत में भाई के कॉलेज से यह सूचना आयी कि अटेंडेंस शार्ट होने की वजह से वह परीक्षा नहीं दे पायेगा तो इससे घर वालों को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। सिर्फ़ इतना ही नहीं, पड़ोसी की जवान लड़की की जूती छुपा कर उससे छेड़खानी करना—यह बात भी पूरी कालोनी में फैल चुकी थी। मुझे अच्छी तरह याद है वह रात। माँ ने कमरा बंद करके उसे बुरी तरह पीटा था। मैंने कभी भी भाई को मार खाते और उस तरह से चिल्लाते नहीं सुना था, इसलिए मेरे लिए वह एक बहुत ही दर्दनाक और खौफ़नाक रात थी। उसके बाद माँ ने रस्सी से उसे पलंग से बाँध कर सारी रात रखा था। उसके बाद भी वह खुद कैसे जाकर सो गयीं थीं, यह मेरे लिए आज भी उतना ही बड़ा आश्चर्य है जितना तब था। यह सब कुछ देख कर मेरे रोंगटे खड़े हो गये थे। दो-तीन घंटे चाह कर भी मैं भाई के कमरे में नहीं जा सकी थी और जब गयी भी तब उससे सीधी नज़रें नहीं मिला सकी। उसे वैसा बँधा हुआ नहीं देख सकी। भाई ने मुझसे पानी माँगा था। मैंने उसे कापते हाथों से जाने कितना पानी पिलाया था लेकिन फिर भी उसकी प्यास नहीं बुझी थी। फिर उसने बाथरूम जाना चाहा और मुझे याद है कि कितना डर-डर कर मैंने उसे खोला था और उसे पकड़ कर आहिस्ता से बाथरूम भी ले गयी थी। वापस आकर मैंने उसे फिर वैसे ही बाँध दिया था, हालाँकि यह मैं ही जानती हूँ कि यह काम मुझसे कितना मुश्किल से हुआ था।

उसके बाद कितने-कितने लोगों ने उसे समझाया था। कोशिश की थी कि वह राह पर आ जाये और शायद थोड़ा-थोड़ा वह सुधर भी गया था। सब की सलाह से इंजीनियरिंग कॉलेज छोड़ कर वह बी० एस-सी० करने लगा था। पर पता नहीं जितना इनटेलिजेंट बचपन में था उतना ही क्यों अब वह पढ़ाई से घबराने और भागने लगा था। कुछ दिन ठीक रहता, फिर कुछ दिनों के लिए बदल जाता। फिर कहने-समझाने पर ठीक हो जाता, फिर बदल जाता। मेरा और ही बुरा हाल हो गया था। मैं अपने में और छोटी बहन में ही मस्त रहने की कोशिश करती। सुबह कॉलेज जाने से पहले उसे तैयार करती और उसे स्कूल छोड़ती हुई अपने कॉलेज चली जाती थी। फिर कॉलेज से आ कर घर से उसका खाना लें जाकर उसे स्कूल में खिलाती और फिर लौट आती। इस कार्यक्रम में भी अगर

मुझ पर कोई शक करता या कोई सवाल पूछता तो मैं बिगड़ैल बैरन बन जाती। अड़ियल घोड़ी बनी सामने वाले की सीधी आँखों में देखती रहती और मुँह से कुछ न कहती। सिर्फ़ इसी वजह से मुझे अपना कॉलेज भी ज़िद में ही छोड़ना पड़ा कि अगर हर दिन की सफाई मुझे घर आकर देनी पड़ेगी तो इससे अच्छा है मैं कॉलेज ही न जाऊँ। इसके साथ-साथ माँ का मुझ पर सिर्फ़ इसलिए भी गुस्सा निकलने लगा था कि मैं उन्हें अब एक बहुत बड़ी मुसीबत भी लगने लगी थी, क्योंकि उन्हें मेरा विवाह, विवाह के लिए धन बहुत बड़ा पहाड़ लगने लगा था—अर्थात् मैं ही उनके जीवन में शुरू से अंत तक किसी न किसी प्रकार की सिरदर्दी बनी रही हूँ, पहले इसलिए—तब उसलिए—अब इसलिए।

इसी सबसे तंग आकर मैंने एक दिन अपनी माँ से कहा था कि न तो उन्हें मेरी शिक्षा की और न ही मेरे विवाह की कोई चिंता करनी चाहिए। जिसके जवाब में उन्होंने मुझ से कहा था, "हाँ, हाँ, तू तो बहुत बड़ी सुंदरी है जो घर आकर ही कोई राजकुमार अपनी पलकों पर बैठा कर तुझे ले जायेगा!"

मेरा कॉलेज तो बंद हो गया लेकिन उसके बावजूद भी मुझ पर कड़ी नज़र रखी जाती थी। पता नहीं, मेरी माँ को मुझ पर इतना शक और इतनी चिंता किस लिए लग गयी थी। शक तो खैर वह मुझ पर मेरे बचपन से ही करने लगी थीं, लेकिन मुझे लेकर उनकी नयी चिंता मेरे लिए और ही मुसीबत बन गयी थी।

इसी सिलसिले में मुझे एक बात और याद आयी। मैं तब तक इतनी दु:खी हो गयी थी कि मुझे उस घर में रहना, जीना, खाना, पीना अब बहुत ही मुश्किल लगने लगा था। मैंने मन ही मन तय कर लिया था कि मुझे अब उस घर में बिलकुल नहीं रहना है। सो एक दिन मैंने माँ की दराज़ खोली और उसमें से ५०० रुपये निकाल कर, एक छोटा-सा बक्सा बना कर दोपहर में घर से सीधा स्टेशन को रवाना हो गयी। डैडी गोयल-अंकल के साथ फैक्टरी गये हुए थे। सर्दी के दिन थे, माँ ऊपर छत में बैठी गुड़ चाट रही थीं और बबू, मेरी बहन, स्कूल गयी हुई थी। भाई हमेशा की तरह कहीं धक्के खा रहा होगा। मैंने स्टेशन पहुँचते ही पहली गाड़ी का टिकट माँगा। पता चला पन्द्रह मिनट में पठानकोट आने वाली है। पाँच मिनट स्टेशन पर रुकेगी। मैंने टिकट लिया और प्लेटफार्म नंबर तीन पर जाकर खड़ी हो गयी। दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था। टिकट तो मैंने ले लिया था। लेकिन यह नहीं सोचा था कि पठानकोट जाकर करूँगी क्या। यह मैं अभी सोच ही रही थी कि देखा माँ मुझे ढूँढती-ढूँढती स्टेशन पर पहुँच गयी थीं। साथ उनके गोयल-अंकल थे। मैं यह आज तक नहीं समझ सकी कि माँ ने पैसे चोरी हुए ज़रूर जान लिये होंगे, लेकिन उनका दिमाग़ इतना कैसे काम कर गया कि मैं ज़रूर रेलवे-स्टेशन ही गयी होऊँगी। बहरहाल, उनके प्लेटफार्म पर आते-आते गाड़ी भी आ चुकी थी। निहायत फिल्मी सिचुएशन थी। उन्होंने मुझे गाड़ी पर

चढ़ते-चढ़ते नीचे घसीटा और फिर घर तक घसीटती ही चली गयीं। आगे का विवरण आपकी कल्पना के भरोसे यहीं छोड़ दूँ तो बेहतर है। यद्यपि आप जितना भी अनुमान लगा पायेंगे वह फिर भी कम ही बैठेगा। हाँ, इतना मैं ज़रूर कहना चाहूँगी कि अगर उस दिन माँ के हाथों पकड़ी न जाती तो निश्चित मैंने गाड़ी पकड़ ली होती और अगर गाड़ी पकड़ ली होती तो निश्चित ही आगे की कहानी ऐसी न होती जैसी कि मैं आपको बताऊँगी। लेकिन कैसी होती, इसका अनुमान मैं आज नहीं लगा सकती। और न ही उसकी ज़रूरत ही है। लेकिन जो कहानी उसके बाद की है वह मैं ज़रूर वैसी की वैसी ही आपको लिख कर दूँगी, यह मेरा वादा है।

मैंने आपको बताया था कि ग्वालियर का कॉलेज मैंने छोड़ दिया था, लेकिन उसके साथ-साथ यह बताना भूल गयी थी कि जिन दिनों मैं कॉलेज में थी, मैं कॉलेज की हर एक्टीविटी में सक्रिय भाग लेती थी। एन० सी० सी० से लेकर कॉलेज-इलेक्शन तक में दादागीरी की थी। यही नहीं, स्टूडेंट्स यूनियन में भी बहुत गहमा-गहमी ला दी थी। हर उस काम में मज़ा आता था जिसमें शोर हो, कोई इक्साइटमेंट हो, जिससे आस-पास के लोग भी दुःखी हों और कष्ट पायें। इसी-उस में मैं अपने ही किस्म की दादागीरी में लग गयी थी और उसके साथ-साथ अपने आस-पास कई चमचे भी इकट्ठे कर लिये थे। लेकिन याद रहे, यह सिर्फ़ कॉलेज तक ही सीमित था। इस सब के बावजूद मैं अपनी टीचर्ज़ में बहुत प्रिय थी क्योंकि डिबेट में किसी भी सब्जेक्ट पर इक्सटेम्पोर बोलने में हमेशा मैं बाज़ी मार ले जाती थी। उसका अभ्यास मैंने अपनी कानवेंट एजूकेशन में हासिल किया था। इसके अलावा एन० सी० सी० में रिपब्लिक-डे पर कल्चरल प्रोग्राम्स और टेबुल्स भी मेरे ही दिमाग़ की तिकड़में थीं। बहरहाल यह सिर्फ़ इसलिए बताया है कि आपको यह तो पता चले कि घर में तो जो होता था वह तो आपको बता दिया था, लेकिन कॉलेज में क्या-क्या करती थी यह आपको बताना भूल ही गयी। सिर्फ़ इन्ही वजहों से जब मुझे कॉलेज में देर हो जाती थी तो माँ मुझ पर शक करती थीं। उन्हें यह सब कुछ मालूम था क्योंकि उन्हें यह सब चीज़ें 'वेस्ट ऑफ़ टाइम एंड एनर्जी' लगती थीं और अगर उनसे पूछ कर करती तो शायद अपनी इतनी भड़ास भी न निकाल सकती कि जितनी निकाल ली।

इसके अलावा ग्वालियर तानसेन की भूमि थी। उस भूमि की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि कहा जाता है कि ग्वालियर के बच्चे के रोने में भी स्वर है। वहाँ पर इतने सांस्कृतिक कार्यक्रम होते कि क्या बतायें ! गाना-बजाना और नृत्य तो वहाँ के लोगों की नस-नस में बसा हुआ था। रात-रात-भर किसी न किसी की

छत पर, किसी न किसी त्यौहार या किसी और ही वजह से संगीत कार्यक्रम चलता रहता। वहाँ रह कर यही लगा कि वहाँ के लोगों का जीवन सिर्फ़ नृत्य और संगीत ही है। बाकी काम तो वह सिर्फ़ समय बिताने के लिए ही करते हैं। इसके साथ-साथ वहाँ नाटक खेलने का भी बहुत प्रचलन था।

मुझे इंडो-चाइना वार के दिन अच्छी तरह याद हैं। उन दिनों प्रत्येक संस्था कोई न कोई कल्चरल प्रोग्राम करके वार-फंड धड़ाधड़ इकट्ठा करके भेजती जा रही थी। हमारा कॉलेज भी किसी तरह से पीछे नहीं था। वह अपने आप को इंजीनियरिंग और मेडिकल कॉलेज से किसी भी तरह कम नहीं समझता था। कल्चरल प्रोग्राम्स में तो यों ही उनका मुक़ाबला करता था और वार-फंड के सिलसिले में भी वह पहला नंबर लेना चाहता था। हम लोगों ने बहुत मेहनत और यतन से आषाढ़ का एक दिन' तैयार किया और फिर उसे लगातार एक हफ्ता खेला। टिकट की दर बहुत ऊँची रखी थी और उसके साथ-साथ अपने हाल की कैपेसिटी के बूते पर भी हमारे कॉलेज ने एक हफ्ते में १०,००० रुपये नक़द इकट्ठा किये थे। यह ग्वालियर में क़ायम हुआ अपनी तरह का एक रेकार्ड ही था। यह बात अलग है कि आज उस प्रोडक्शन को याद करके ज़रूर मुझे तकलीफ़ होती है, लेकिन उसके साथ-साथ यह भी सच है कि कॉलेज के एक अमेच्योर ग्रुप होने के नाते वह अपने में ठीक ही था। यों भी उस उमर में किस कमबख्त को इतनी समझ होती है कि अच्छा प्रोडक्शन क्या होता है और बुरा क्या होता है !

यों मुझे शायद यह नाटक याद भी न रहता, अगर उन्हीं दिनों घर में नये सिरे से माँ के मुँह से मोहन राकेश का नाम न सुनने को मिला होता। जहाँ तक मुझे याद है राकेश जी उन दिनों श्री भैरवप्रसाद गुप्त की संपादकीयता में 'नयी कहानियाँ' में लगातार एक सिरीज़ के अंतर्गत लिख रहे थे। सिरीज़ का नाम था 'बकलम खुद'। माँ 'नयी कहानियाँ' की या तो ग्राहक थीं, या फिर बन गयी थीं। क्योंकि हमें वह पत्रिका हर जगह देखने को मिलती थी, चाहे वह बाथरूम हो, किचन हो, चाहे बैडरूम हो। माँ के लिए 'नयी कहानियाँ' की सिर्फ़ इतनी ही देन नहीं थी कि उसमें राकेश पढ़ने को मिलता था, बल्कि सबसे बड़ी देन तो यह थी कि उसमें राकेश जी का पता भी शामिल था। पढ़ना-पढ़ाना तो एक तरफ़ रहा, माँ सबसे पहले तो उनके पते पर लपकीं।

मैं नहीं जानती कि माँ राकेश जी को क्या-क्या लिखती रहीं। लेकिन अगर अंदाज़ लगाया जाये तो सबसे पहले उन्होंने राकेश-साहित्य के बहुत पुल बाँधे होंगे। उसके बाद काफी समय तक शायद 'बकलम खुद' से प्रश्न उठाये होंगे—उस पर लिखित चर्चाएँ हुई होंगी—और अंत में आप भी जान गये होंगे कि अपने साहित्य की चर्चा छेड़ दी होगी, क्योंकि अन्यथा किसी भी व्यक्ति के साथ आप अचानक इतना लंबा पत्र-व्यवहार नहीं कर सकते। बहरहाल, उन दिनों माँ बहुत

प्रसन्न-प्रसन्न रहा करतीं। इसी बहाने कम से कम हम लोगों की ज़िंदगी में भी थोड़ी-सी बहार तो आयी। अब तो वह उन पत्रों के द्वारा राकेश जी को और अच्छी तरह जानने का दावा भी करने लगीं। आपको सच कहूँ तो मैं, मैं तो क्या घर में के अन्य प्राणी भी इस चर्चा से काफी ऊब चुके थे, लेकिन बर्दाश्त करने के अलावा और करते भी क्या ?

एक बात मुझे आज तक भी पता नहीं चली कि ममी राकेश जी को मेरे नाम से क्यों ख़त लिखती थीं ! उन दिनों तो यों भी उनसे पूछने की हिम्मत नहीं पड़ती थी, क्योंकि हम इस प्रकार की कोई भी बात घर में नहीं करना चाहते थे कि जिससे घर की शांति भंग हो। अन्य बातों के साथ-साथ यह भी बर्दाश्त करना हम लोगों के लिए कोई मुश्किल बात नहीं थी।

मैंने आपको बताया था कि मैंने ज़िद में आकर ग्वालियर कॉलेज छोड़ दिया था और अब पंजाब यूनिवर्सिटी से प्राइवेट.बी० ए० देने की तैयारी कर रही थी। परीक्षा से तीन महीने पहले हमें गुड़गाँव जाकर फ़ार्म्स भरने थे। जहाँ मैं घबरा रही थी कि फ़ार्म्स भरने के दिन नज़दीक आ रहे हैं, वहाँ वही समय हमारी माँ को बहुत लंबा लग रहा था। इसका सबसे बड़ा राज़ तो यह था कि जहाँ माँ को दिल्ली में राकेश जी से मिलने की उत्सुकता थी, वहाँ मुझे न तो राकेश जी से ही मिलने की उत्सुकता थी और न परीक्षा देने की ही उत्सुकता थी। मुझे तो दोनों ही बातें अपने में नीरस लगती थीं, लेकिन माँ के सुखों के आगे हम कब न्यौछावर नहीं हुए जो अब न होते। हम सब लोगों का यह फ़र्ज हो गया था कि दिल्ली जाने के दिन हम माँ के साथ एक होकर गिनें और जितनी जल्दी हम से हो सके, हम उन दिनों को बितायें ! बहरहाल, दिन थे कि अपना ही समय ले रहे थे। कभी-कभार जब वह मुझे पढ़ने के लिए डाँटतीं और कहतीं कि अब दिन ही कितने रह गये हैं, तो मुझे कहीं-कहीं तसल्ली होती कि चलो माँ को भी लगने तो लगा कि दिल्ली जाने के दिन पास आ रहे हैं।

कार्यक्रम माँ ने इस प्रकार बनाया था कि दिल्ली होकर गुड़गाँव जायें और गुड़गाँव से वापस दिल्ली आकर कम से कम हफ्ता रहें। शायद ऐसा ही अपना कार्यक्रम माँ ने लिख कर राकेश जी को भी भेजा था, जिस पर शायद उनका जवाब आया कि उन दिनों वह दिल्ली में ही हैं और कि वह और उनकी पत्नी उनसे मिल कर बहुत प्रसन्न होंगे। उन दिनों राकेश जी अपनी पत्नी के साथ कीर्तिनगर में रहते थे, क्योंकि जिस पत्र में राकेश जी ने अपने घर का रास्ता समझा कर लिखा था, उस पत्र को माँ ने बहुत ही सहेज कर रखा था (यों तो माँ ने राकेश जी के सारे ही पत्र बहुत सहेज कर रखे हैं)।

इस बीच में माँ को राकेश जी की परसनल लाइफ़ के बारे में काफी कुछ ज्ञात हो चुका था। उन्हें यह भी पता चल चुका था कि उनका अपनी पहली पत्नी

से संबंध-विच्छेद हो चुका है और कि पहले-पहल वह लोग दयालबाग में रहते थे। इसके अतिरिक्त कि उन्हें अपनी पहली पत्नी से एक पुत्र भी है जो कि विच्छेद के बाद अपनी माँ के साथ देहरादून में ही रहता है। और कि पहली पत्नी अब देहरादून के किसी गर्ल्स कॉलेज की प्रिंसिपल हैं। पहली पत्नी से संबंध-विच्छेद के बाद उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया है और दूसरे विवाह का निर्वाह दिल्ली में हो रहा है। इतने सब समाचार उन्होंने कैसे-कैसे और कहाँ-कहाँ से बटोरे होंगे, यह मेरे दिमाग़ से बाहर की बात है। बहरहाल, इतना मुझे विश्वास है कि राकेश जी से साक्षात् होने से पहले ही उन्हें उनके बारे में, उनके साहित्य के बारे में काफी कुछ पता चल चुका था। अब तो नया सिर्फ़ इतना ही रह गया था कि वह उनसे मिलें—और जैसा कि आप सब लोग जानते ही हैं कि भगवान के घर में देर है अंधेर नहीं, जैसे-तैसे वह दिन भी आ ही गये...।

हमें ग्वालियर से दिल्ली और दिल्ली से गुड़गाँव जाना था। सो पहले माँ ने गुड़गाँव का काम ख़त्म किया और एक बार ही दिल्ली आकर साँस ली। दिल्ली में हम डैडी के पार्टनर मिस्टर गोयल के यहाँ ठहरे थे। गोयल-अंकल की एक लड़की की शादी हो चुकी थी और दूसरी लड़की बीना मेरी उमर की थी (बीस वर्ष की), तीसरी लड़की मेरी बहन बबू की उमर की थी। इसलिए हम दोनों बहनें तो दिल्ली आते ही अपनी हम-उमरों के साथ मस्त हो गयी थीं। पहले दिन का तो हमारा यह प्रोग्राम था कि दिन के तीनों शोज़ में लगातार पिक्चरें देखेंगे और ऐसा ही हमने किया भी अर्थात एक हाल से निकले और दूसरे में घुस गये, दूसरे से निकले तीसरे में घुस गये। आखिरी शो नौ-साढ़े नौ बजे छूटा। वहाँ से सीधे हम स्टैंडर्ड एक्सप्रेस बार पहुँचे और खाना खाकर रात के ग्यारह बजे घर पहुँचे। मैंने इतना सब माँ से बिना पूछे कर तो लिया, लेकिन अब घर जाने-जाने में दिन-भर की सारी ऐश धूल हो चुकी थी और अब आँखों के आगे जीवन का यथार्थ घूमने लगा था। दिन-भर का हो-हुल्लड़ जिसमें नौजवान जोड़ों का पीछा करना, सड़कों पर सीटियाँ बजाना, कोका-कोला मुँह में भर कर कुल्ला करना, पिक्चर में अपने पड़ोसी को पाप-कार्न बाँटना भी शामिल था—अब सब धुल चुका था। कुछ अजीब ही मेरी आदत हो गयी थी कि जब भी जितनी भी आज़ादी मिलती उसका बुरे से बुरा उपयोग करती, लेकिन माँ के कोई सौ गज़ भी पास आ जाने पर सब हवा हो जाता था। लेकिन अब तो हम गेट पर थे और माँ ड्राइंग-रूम में थीं अर्थात हाथ-पैर काँप रहे थे। खिड़की में से माँ की जिस प्रोफाइल को हम देख सकते थे, वह इस पैदा की गयी स्थिति के कहीं भी प्रतिकूल नहीं लग रही थी। वह बैठी खिलखिला रही थीं। उनकी खिलखिलाहट से आस-पास ताज़े-ताज़े

चमेली के फूल भी बिखर रहे थे। "वाह !" मैंने बीना से कहा, "आज तो मज़े ही मज़े हैं।"

हम लोग बेशर्मी से सीधे ड्राइंग-रूम में दाखिल हुए। माँ ने पहली बार बड़ी दिलेरी जतलायी। "कहो, तो आज फिर जी भर कर इन्ज्वाय किया न ?" मैं अवाक उन्हें देखती रही। फिर रहा न गया बोली, "मम्मी, आपको खुश देखते हैं तो उसी से हमें बड़ी खुशी मिलती है।" कमरे में बैठे सभी लोग खिलखिला कर हँस पड़े। यों आगे-पीछे मैंने यह सब कहा होता तो रासें ऐसे कस दी जातीं कि बस। लेकिन इन लोगों के बीच माँ को भी यह बहुत बड़ा मज़ाक लगा। हँसने वालों में उनकी आवाज़ सबसे ऊँची थी। कमरे में उस समय बीना के डैडी-मम्मी अर्थात् मिस्टर एंड मिसेज़ गोयल, उनकी छोटी लड़की मधु, बबू और गोयल-अंकल के दो छोटे भाई मौजूद थे। खाना खाने के बाद गर्म-गर्म जलेबियों का सेवन हो रहा था।

धीरे से मैंने बीना को कोहनी मारी कि चलो उसके कमरे में चलें। बीना और मैं जाने को उठ खड़े हुए कि गोयल-अंकल ने बीच में टोक दिया कि अभी आये हैं और अभी अपने कमरे में भी जा रहे हैं। मुझे गोयल-अंकल बहुत पसंद थे। वह अपने बच्चों में इतना उत्साह, इतनी उमंग भरते थे कि मज़ा आ जाता था। इसके अतिरिक्त वह बच्चों को यह महसूस कराते थे कि माँ-बाप के जीवन में बच्चों का एक अपना ही स्थान है, एक अपनी ही ज़रूरत है। अगर कोई भी किसी को अपने पास बैठने के लिए इतना अनुरोध करेगा तो कौन कम्बख्त होगा जो पास बैठना नहीं चाहेगा ! लेकिन मैंने अपनी ज़िंदगी में कभी ऐसा महसूस नहीं किया कि हमारे माँ-बाप को कहीं हमारी ज़रूरत है। हमें तो केवल यही लगता रहा कि अपनी किसी भी ग़लती के बिना हम अपने माँ-बाप पर लादे गये हैं।

बहरहाल, हम दोनों वहीं के वहीं बैठ गये। मुझे कभी भी गोयल-अंकल के साथ बैठने में तकलीफ़ नहीं हुई, क्योंकि वह प्रत्येक जवान बच्चे को बच्चा नहीं अपना दोस्त मानते थे। उनसे हरेक किस्म की बात करते और अगले आदमी को इतना कान्फिडेंस देते कि वह अपने मन की गहरी से गहरी बात भी उँडेल कर उनके सामने रख देता था।

उन्होंने हमसे पूछा कि हम कहाँ-कहाँ गये और क्या-क्या किया। मुझे ताज्जुब हुआ कि वह अपने बच्चों की बेवकूफ़-से-बेवकूफ़ हरकतों पर भी बच्चों की तरह हँस देते थे। फिर उन्होंने पूछा कि हम लोगों का कल का क्या प्रोग्राम है तो बीना बोली कि कल हम इन्दु दीदी (उसकी बड़ी बहन) के घर जायेंगे और वहीं डे स्पेंड करेंगे। माँ ने बीच में टोक कर पूछा कि क्या मैं कल उनके साथ जाना पसंद करूँगी। मैंने पूछा--कहाँ, तो पता चला कि आज भी वह मोहन

राकेश के घर गयी थीं और शायद कल भी वहीं जायें। लेकिन कल का उन्हें पक्का पता नहीं है। वह सुबह पहले फोन करेंगी। एक चुटकी में ही मुझे माँ की आज की दयानतदारी और हद-पार की खुशी का सुराग़ मिल गया। बात-बात में ही माँ से पता चला था कि वह उन श्री और श्रीमती दोनों से मिल आयी हैं और कि दोनों ही अव्वल दर्जे के लोग हैं और श्री भी इतने नहीं जितनी श्रीमती थीं।

इस बार वीना ने नहीं, मैंने कोहनी मारी। हम लोग उबासियाँ मारते-मारते वहाँ से बाहर निकले और कपड़े बदल कर सीधे अपने-अपने बिस्तर में डूब गये। बिस्तर में लेटे-लेटे मैंने बीना पर अपनी माँ की प्रसन्नता का राज़ फोड़ दिया। बीना अब उचक कर बैठ गयी थी, और वापस तोप का गोला छोड़ती बोली, "अरे, यह आषाढ़ के दिन वाला मोहन राकेश तो नहीं ?" इस बार मैं उचक कर बोली, "हाँ, पर क्या तुम भी इसे जानती हो ?"

"शक्ल से तो नहीं, पर हाँ अक्ल से ज़रूर। इसके आगे तो हम घुटने टेक चुके हैं।"

मैं फिर भी मतलब नहीं समझी लेकिन मुझे ज़रूर एक बार तो बीना पर तरस आ गया था कि क्या वह भी इन लेखकों के चक्कर में पड़ चुकी है। मुझे अफ़सोस होने लगा कि क्यों मैंने वह दिन इसके साथ इतने भोलेपन में बिता दिया। क्यों मैंने पहले उसके बारे में सब कुछ नहीं जान लिया था। मुझसे रहा न गया, मैंने फिर पूछा, "मैं समझी नहीं, बीना !" इस बार उसने स्पष्ट कर दिया, "अरे, हमें हायर सेकेंडरी में 'आषाढ़ का एक दिन' पढ़ना पड़ा था।" उसने तो यह बात बड़े आराम से ही कही, लेकिन मैं ज़रूर बेहोश होते-होते बची। लेकिन तुरंत ही बीना ने पलट कर पूछा, "आख़िर बात क्या है, तुम क्यों इतनी घबरा गयी हो ? क्या तुम उसे जानती हो ?" मैंने पलट कर कहा, "तुम क्या मुझे इतना बेवकूफ समझती हो ? तुम माँ में और मुझमें कोई फ़र्क़ महसूस ही नहीं करतीं। लिमिट है, यार !" और मैं उठ कर बैठ गयी थी। बीना ने बैठे-बैठे कहा, "चल यार, कल चल, कल 'लेखक' ही देख आयें—मैंने आज तक कोई लेखक नहीं देखा।" मैंने जवाब दिया, "अरे, लेखक कोई देखने वाली चीज़ नही है—बड़ी ही लिज़लिज़ी चीज़ है—स्टिकिंग प्लास्टर कभी देखा है ?" बीना अब सतर्क हो गयी थी। बोली, "तूने पहले कभी कोई लेखक देखा है ?" वह अब तक काफी उत्तेजित हो चुकी थी। मैंने पलट कर जवाब दिया, "अरे, तू कहती है कि मैंने कभी कोई लेखक देखा है —मैंने तो लेखकों को देख-देख कर ही होश संभाला है।"

"लेखकों को ?" बीना की आँखें बाहर आ गयी थीं। "लेकिन तू तो मुझे ऐसे डरा रही है मानो 'लेखकों' को न देख कर 'भूतों' को देखा हो।"

"भूत ! तू अगर 'जिन' भी कहती तो भी मैं मान जाती।" मैंने अब दीवार से टेक लगा ली थी।

"वैसे तूने पढ़ा हुआ है 'आषाढ़ का एक दिन' ? पहले यह बता ?" बीना ने होशियार बनने की कोशिश की।

"अरे, छोड़। पढ़ा क्या रटा हुआ है, लेकिन उससे कुछ नहीं होता। तुझे यह नहीं पता कि जो यह लोग लिखते हैं न, उससे बिलकुल उल्टे होते हैं।"

"अच्छा तो तूने जो इतने लेखक देख रखे हैं, मुझे भी एक देख लेने दे न," बीना ने विनती की।

"चल छोड़ यार, बोर कर मारा है तूने भी ! तूने जाना है तो जा। मुझे तो पहले के ही देखे हुए लेखकों से अभी तक बदहज़मी हुई है।"

"अच्छा तो यह तो बता लेखक होते कैसे हैं ?"

मुझे अब हँसी आ गयी। बोली, "कैसे मतलब ? उनमें और अन्य में बातें तो समान ही देखीं, अगर कहीं फ़र्क़ होता है तो वह उनके बोलने, चलने और पहरावे में ही होता है। और उनकी इसी चीज़ से मुझे एलर्जी है। इसी से कहती हूँ कि तूने जितना लेखक को उसके एक लेखन से जाना है बस उतना ही ठीक है। कम से कम देखे बिना तो राय नहीं बदलनी पड़ेगी न।"

हालाँकि बीना दिल से तो नहीं मानी थी लेकिन जैसे भी था, वह अगले दिन मेरे साथ इन्दु (अपनी ब्याहता बहन) के घर डे स्पेंड करने चली गयी थी।

सारा दिन हमने फिर बहुत मस्ती मारी। इन्दु के पास एक छोटी बिटिया थी। उसे नहलाया-धुलाया, दूध पिलाया और उससे दिल-भर कर खेला। शाम को ज़ोर से जाज़ म्यूज़िक चला कर हब्शियों की तरह नाच लिया, हो-हुल्लड़ मचाया। दिन में ही माँ का फोन आ गया था कि वह शाम को आकर हमें गाड़ी में वापस ले जायेंगी, लेकिन आयीं वह तब जब रात हो चुकी थी।

हम लोग उस तरह शोर मचा रहे थे कि अचानक कमरे में घुस कर मधु (बीना की छोटी बहन) ने हमें चुप कराते हुए कहा, "शऽऽ...लेखक आ रहा है, लेखक !"

हमने जाज़ तो जल्दी से बंद कर दिया। लेखक से डर कर नहीं, माँ से डर कर। उसके बाद मैंने बीना से कहा कि आज मज़ा लेंगे।

सबसे पहले माँ अंदर घुसीं लेखक पत्नी को बग़ल में लिये हुए और उसके बाद स्वयं लेखक। अचानक—वातावरण गंभीर हो गया था। मानो कोई आप-रेशन होने वाला हो !

मैं और लेखक आमने-सामने बैठे। एक तरफ़ के सोफे पर लेखक-पत्नी और माँ, और दूसरी तरफ़ इन्दु, बीना, मधु और बबू बैठे थे। चाय बड़े सलीके से अंदर लायी गयी और बीच टेबल पर उतनी ही ख़ामोशी से रखी भी गयी। अब चाय बनाने को कोई आगे नहीं आ रहा था क्योंकि प्रत्येक को अपने पर इतना भरोसा नहीं था कि वह बिना शांति भंग किये चाय बना सकता है। मैं कभी लेखक को

देखती, कभी माँ को और कभी बीना को। लेकिन माँ थीं जो सिर्फ़ लेखक-पत्नी में ही उलझी हुई थीं और बीना थी जो सिर्फ़ लेखक को ही देख रही थी और लेखक था कि सिर्फ़ चाय की ट्रे को ही देख रहा था। मुझे पूरा यक़ीन था कि चाय की ट्रे पर कहानी क़रीब-क़रीब पूरी हो चुकी होगी। अब सिर्फ़ छपने में ही देर है। मैंने लेखक का ध्यान भंग करने के लिए माँ से पूछा, "माँ, चाय बना दूँ?" कहते के साथ मैं उठ खड़ी हुई। मेरे उठने के साथ ही लेखक की पलकें भी मेरे साथ-साथ उठीं। माँ ने फिर बोलने में देर नहीं की। "आप पूछ रही थीं न कि मेरी बड़ी लड़की कौन-सी है, तो वह यही है।" उन्होंने लेखक-पत्नी की ओर मुख़ातिब होकर कहा। फिर मुझसे बोलीं, "यही हैं मोहन राकेश जिनका बहुत कुछ तुमने पढ़ रखा है।" माँ का अतिरिक्त बोल जाने की आदत से मेरा बहुत पुराना परिचय था, इसलिए मैंने उसकी तरफ़ ध्यान न देकर नये परिचय की तरफ नज़रें घुमायीं और एक भली मुस्कराहट के साथ नमस्कार करते हुए कहा, "मेरा नाम अनीता है।"

"तुम्हारे नाम से मेरा परिचय बहुत पुराना है।" वह हँस कर बोले। मेरा माथा ठनका, क्योंकि बहुत से लोगों को मधुर बोलते मैंने पहले भी सुना हुआ था, लेकिन आवाज़ में इतनी ज़बरदस्त वाइब्रेशन मैंने पहले कभी महसूस नहीं की थी।

बहरहाल, बातों का ताँता इस क़दर लगा कि बातों-बातों में ही कब रात के बारह बज गये, इसका किसी को भी होश न रहा। बातें क्या-क्या हुई थीं, इसका ब्यौरा बेकार है। हाँ, इतना ज़रूर था कि लिटरेचर इन जनरल बहुत ज़्यादा डिसकस हुआ था। लेखक के दिमाग़ में यह बात अच्छी तरह बैठ चुकी थी कि अंग्रेज़ी तो अलग, यह ऐंगलिसाइज़्ड लड़की हिंदी साहित्य की भी अच्छी-खासी पाठक है। इन सबसे हट कर उन्हें मेरा भोलेपन में चहकना शायद सबसे ज़्यादा अच्छा लगा था, यह मैंने बाद में जाना। इस बीच में माँ तो सिर्फ़ लेखक-पत्नी को गोद में लिये बैठी रहीं और जो वाक्य हमें हर पाँच मिनट के अंतराल में सुनने को मिलता था, वह यह—"आपकी पत्नी बड़ी स्वीट है, राकेश जी...आपकी पत्नी बड़ी स्वीट है, राकेश जी ..आपकी...!"

रात के बारह बज चुके थे। सभी को घर जाने की जल्दी हो रही थी। गाड़ी एक थी और मुसाफ़िर बहुत थे। आगे की सीट पर मैं, बीना, मधु और ड्राइवर बैठा था और पीछे की सीट पर राकेश जी, उनकी पत्नी, ममी और बबू बैठे थे। सारा रास्ता कोई कुछ नहीं बोला। सड़कें इतनी सुनसान थीं कि एक बार हार्न भी नहीं बजा। माँ ने पहले बीना, मधु, बबू और मुझे घर उतारा और फिर राकेश जी और उनकी पत्नी को उनके घर छोड़ने गयीं।

अगले दिन माँ से पूछा कि आप उन्हें वहाँ किस लिए लायी थीं तो उन्होंने बताया कि पुष्पा जी (उनका नाम अब पता चला था) ने उनसे पूछा था कि दिल्ली वह किस सिलसिले से आयी थीं तो माँ ने बताया कि वह अपनी लड़की के बी० ए० के फ़ार्म और दाखिला भरने आयी थीं। इस बात पर उन्होंने बहुत आश्चर्य प्रकट किया और कहा, "आपकी लड़की बी० ए० में पढ़ती है ?" माँ ने उत्तर दिया, "हाँ, क्यों ?" लेकिन पुष्पा जी ने माँ के उत्तर का जवाब न देकर राकेश जी की तरफ़ मुड़ कर उसी आश्चर्य से कहा, "आपने सुना, इनकी लड़की...।" बात अभी पूरी भी नहीं हुई थी कि राकेश जी ने अपनी पत्नी की बात से उत्पन्न झेंप को काट कर कहा, "हाँ, हाँ, मैंने सुन लिया है कि इनकी लड़की बी० ए० में पढ़ती है !" माँ ने हमें उन दोनों के कहे वाक्यों को बिलकुल उसी लहज़े से कह कर सुनाया जिस लहज़े में दोनों ने कहा था जिसे सुन कर हमें बहुत हँसी आयी। फिर सारा दिन वीना और मैं बार-बार ममी को सिर्फ़ वही बोल कर सताते रहे। बहरहाल, पुष्पा जी की उत्सुकता को मिटाने के लिए माँ उन्हें मुझसे मिलाने के लिए वहाँ लायी थीं। कुछ भी हो, पुष्पा जी को मैं पसंद आयी थी या नहीं, लेकिन इतना निश्चित था कि माँ को पुष्पा जी बहुत ही पसंद आयीं यहाँ तक कि दोनों ज़बरदस्त सहेलियाँ बन गयी लगती थीं।

हम लोग जब लश्कर वापस आये तो माँ ने आते ही राकेश जी और उनकी पत्नी को जाने कितने-कितने धन्यवाद लिख कर भेजे। एक पत्र तो मुझे भी याद है जो राकेश जी ने हमारे लौटने के बाद सबसे पहला लिखा था। उन्होंने लिखा था—"चंद्रा जी, आपसे मिल कर बड़ी खुशी हुई और उससे भी जिसका छद्मनाम आपने अपनाया था !" माँ ने चिट्ठी पढ़वायी तो मैंने माँ से झट पूछ लिया कि उन्होंने राकेश जी को यह क्यों बताया कि आपका नाम अनीता नहीं बल्कि चंद्रा है, तो वह बोलीं कि राकेश जी को बहुत पहले ही श्री ओंप्रकाश जी से पता चल गया था, क्योंकि माँ 'नयी कहानियाँ' के लिए उन्हें कई बार कहानियाँ भेज चुकी थीं। मैंने माँ से पूछा कि ऐसी बात राकेश जी ने आपको पहले ही क्यों नहीं लिख कर पूछ लिया था कि अगर आपका नाम 'चंद्रा' है तो 'अनीता' कौन है। माँ ने बताया कि जब यही सवाल राकेश जी से उन्होंने किया था तो उन्होंने हँस कर जवाब दिया था—"इस बात का पता चलने में देर भी कहाँ लगी है ?"

इसी तरह माँ दोनों को पत्र लिखती रहीं और उधर से राकेश जी और पुष्पा जी के पत्र उन्हें बराबर आते रहे। यहाँ तक कि पुष्पा जी से स्वेटरों के नमूनों का आदान-प्रदान भी ज़ोरों पर होने लगा था।

मेरी परीक्षा के दिन आ गये थे। हम लोग पहले की ही तरह केवल एक दिन दिल्ली रहे और फिर गुड़गाँव आ गये। उस एक दिन में शायद माँ ने राकेश जी से फ़ोन पर ही बात की थी और शायद उन्हें गुड़गाँव का पता भी दिया था

(क्योंकि बाद में राकेश जी ने मुझे बताया था कि वह गुड़गाँव श्री और श्रीमती शिवदान सिंह चौहान से मिलने गये थे, लेकिन राकेश जी और पुष्पा जी के बीच कोई आपसी झगड़ा हो जाने के कारण वह लोग हमसे वहाँ मिलने नहीं आ पाये—सीधे दिल्ली लौट गये।) फिर परीक्षाओं के बाद भी हम लोग केवल एक दिन ही दिल्ली रुक पाये और तब भी माँ शायद फ़ोन पर ही बात कर पायीं। उसके बाद भी कई महीनों तक पत्र-व्यवहार ही चलता रहा। फिर अचानक वह भी बंद हो गया। माँ ने समझा, शायद वह लोग दिल्ली से बाहर गये होंगे। इसी इंतज़ार में दो-तीन महीने यों ही निकल गये। फिर अचानक उनका एक पत्र दिल्ली से लौट आया—'एड्रेस नाट अवेलेबुल' के नोट से। माँ ने वहाँ पत्र डालना बंद कर दिया, यद्यपि आश्चर्य बना रहा।

इसी बीच में 'ज्ञानोदय' के तब के संपादक श्री शरद देवड़ा ने नवोदित लेखिका-अंक निकालने की घोषणा कर दी थी। उससे प्रेरणा पाकर मैंने अपनी पहली कहानी 'कि मैं कैसी हूँ' लिखी थी जो शरद जी ने छापी भी थी (बाद में जब मेरी कुछ अदद कहानियाँ और छपीं तो शरद जी राकेश जी के सामने मुझसे यह कहने से बाज़ नहीं आये थे कि मेरी पहली कहानी तो उन्होंने ही छापी थी —। अब अगर और कहानियाँ छप रही हैं तो उससे क्या होता है?)

इसी बीच में माँ ने श्री ओंप्रकाश जी (तब राजकमल के डायरेक्टर थे) से लिख कर पूछा कि क्या उन्हें मालूम है कि राकेश जी इन दिनों कहाँ है। जवाब आया था—"राकेश जी इन दिनों 'सारिका' के संपादक हैं। उनका पता है:—श्री मोहन राकेश, संपादक सारिका, दि टाइम्स आफ इंडिया, बंबई।" यह संक्षिप्त चिट्ठी मुझे आज भी याद है, क्योंकि माँ के लिए तो यह एक क़ीमती दस्तावेज़ था।

लेकिन इससे भी समस्या कोई बहुत जल्दी नहीं सुधरी थी। माँ ने लगातार कई पत्र बंबई भी डाले, लेकिन कोई जवाब नहीं आया।

फिर अचानक एक दिन एक छोटा-सा नोट आया—"प्रिय चंद्रा जी, आपकी सभी चिट्ठियाँ मिल गयीं थीं, लेकिन मेरी मन:स्थिति इन दिनों कुछ ऐसी है कि सोचता हूँ कि विस्तार से आपको फिर लिखूँगा। अनीता कैसी है? उसे मेरा स्नेह दें! राकेश।"

फिर एक छोटा-सा नोट —"सारिका से मैंने तीन महीने पहले रिज़ाइन कर दिया था लेकिन रेज़िगनेशन अब एक्सेप्ट हुआ है। इसलिए तीन-चार महीने के बाद मैं इस संपादन-भार से मुक्त हो जाऊँगा।"

फिर एक लंबा पत्र जिसका संक्षेप यह कि—"आपके पत्रों का जवाब इसलिए नहीं दे पाया था कि जिस 'स्वीट' लड़की को आपने मेरी पत्नी के रूप में देखा था, उसे लेकर आजकल मामला अदालत में हैं। मेरे आज तक के विताये दोनों वैवाहिक

जीवन का सारांश आपको मेरी कहानी 'एक और ज़िंदगी' से प्राप्त हो सकता है। अनीता कैसी है ? उसे मेरा स्नेह दें।" चिट्ठी सच ही बहुत लंबी थी, लेकिन फिर भी माँ ने और मैंने उसे कई बार पढ़ा—और कई बार मन उदास हुआ। विश्वास ही नहीं होता था कि क्या दूसरी बार भी असफल रहे ?

बहरहाल, माँ ने उनसे वादा लिया कि जिस मन:स्थिति में वे हैं उसमें उन्हें बंबई से दिल्ली जाते समय हम लोगों के पास ज़रूर कुछ दिन रहना चाहिए जिससे उसका मन काफी हलका हो सकेगा। राकेश जी ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया था।

इस बीच माँ ने मेरी लिखी एक और कहानी 'न जाने क्यों ?' राकेश जी को उनके विचार जानने के लिए भेजी। साथ में यह भी लिखा कि अगर वह उन्हें 'सारिका' में प्रकाशन के लिए उपयुक्त लगे तो उसे उसमें छाप भी दें। माँ ने मेरी पहली कहानी 'कि मैं कैसी हूँ' का भी साथ ही हवाला भी दे दिया।

राकेश जी का आश्चर्य-भरा पत्र आया जिसमें उन्होंने लिखा था कि उन्हें यह जान कर बहुत खुशी हुई कि अनीता ने लिखना शुरू कर दिया है—लेकिन साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि जब तक मैं स्वयं उन्हें लिख कर अपनी कहानी के बारे में राय नहीं माँगूंगी, वह नहीं देंगे।

अब क्या था ? चाह कर या न चाह कर भी मैंने राकेश जी को अपना पहला पत्र लिखा। यह नहीं है कि मैं उन्हें लिखना नहीं चाहती थी—खासतौर से तब तो लिखना भी चाहती थी, जब उनके दूसरे विवाहित जीवन के अंत के बारे में पढ़ा था---लेकिन लिखने से सिर्फ़ इसीलिए घबराती थी, क्योंकि एक बहुत बड़ा काम्पलेक्स था मन में—कि इतने बड़े लेखक को मैं क्या और किन शब्दों में कुछ लिख सकती हूँ। लेकिन अब उनके ही इतने अनुरोध पर मैं उन्हें न लिखती, ऐसा नहीं हो सकता था। अत: मैंने पहला पत्र उन्हें झिझकते-झिझकते लिख ही दिया, जिसका उत्तर मुझे अपनी कल्पना से कहीं पहले आ गया था। उन्होंने लिखा था—प्लाट बहुत अच्छा है, लेकिन कहानी पर थोड़ी मेहनत और दरकार है और कि मुझे छपाने के मामले में इतनी जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। नहीं तो कुछ ही दिनों में अपना नाम यहाँ-वहाँ छपते देख कर मैं बोर हो जाऊँगी। उन्होंने यह भी लिखा था कि बंबई छोड़ने के बाद जब वह लश्कर कुछ दिनों के लिए आयेंगे तो मुझे साथ बैठ कर कहानी सुधरवा देंगे, आदि-आदि। पत्र सच में ही बहुत प्यारा और अपनत्व का एहसास देता था—यों तो मुझे उनके लिखे सभी पत्र अच्छे लगते थे, लेकिन इस पत्र का अपना ही एक आनंद था। यह पत्र नितांत मेरे ही नाम था, मेरे और केवल मेरे लिए।

फिर उस एक ख़त के आदान-प्रदान के बाद न तो कोई ख़त मेरी तरफ़ से गया ही और न ही उधर से आया। हालाँकि माँ को भेजे गये हर ख़त में मुझे स्नेह ज़रूर भेजा जाता था जिसे माँ मुझ तब पूरी वफ़ादारी से पहुँचा देती। इधर से मेरे कहे बिना ही शायद नमस्कार भेज दिया जाता था। इसी तरह दिन ढलते गये और धीरे-धीरे राकेश जी के संपादन-कार्य से मुक्त होने के दिन क़रीब आते गये। हमारे घर में राकेश जी के आने के आसार हर जगह दिखायी दे रहे थे। कितने क़िस्म के आचार-मुरब्बे माँ ने डाले थे, छोटी-बड़ी मठरी तल कर रखी गयीं—और तो और उन गर्मियों के मानसून महीनों में भी घर की पुताई करवायी गयी। पड़ौसियों को यद्यपि इस बेमौसम की पुताई पर आश्चर्य भी हुआ—क्योंकि मुझे याद है कि पड़ोसियों की बच्ची (जोकि मेरी बहन, बबू की सहेली थी) उसे कह रही थी—कि अरे, तुम लोगों ने अब क्यों पुताई करायी है? सब तो बारिश में ख़राब हो जायेगी। तो बबू ने पलट कर बहुत विश्वास से जवाब दिया था, "अरे, तुझे पता नहीं हमारे घर 'मोहन राकेश' आ रहे हैं।" मुझे सुन कर हँसी आ गयी थी। लेकिन यह एक बहुत छोटी मिसाल है आप सबके लिए, जिससे आप यह जान जायें कि बबू को तो प्रभावित होना ही था—हम लोग भी 'मोहन राकेश' के नाम से कम प्रभावित नहीं हुए थे—और फिर कि उन्होंने हमारे घर आने का निमंत्रण स्वीकार कर लिया है यह हम सबके लिए कोई छोटा चैलेंज नहीं था। यह चैलेंज सिर्फ़ आचार-मुरब्बे और पुताई से ही पूरा होता नहीं लगता था। हम सब अपने आपको मानसिक रूप से भी काफी तैयार कर रहे थे, काफी दृढ़ कर रहे थे। फिर उधर माँ ने हमें यह भी समझाया था कि इन दिनों राकेश जी मानसिक रूप से काफी दु:खी है इसलिए हमें इस बात का ख़ास ध्यान रखना होगा कि हम उनकी मन:स्थिति को ठीक करने की पूरी कोशिश करें। यह बहुत बड़ा काम सौंपा गया था। कम से कम मुझे तो यही लग रहा था। क्योंकि अगर वह हमारे घर रहने के बाद भी दु:खी हो गये तो इसका पूरा गुस्सा माँ मुझ पर ही निकालेंगी। इसलिए भगवान का नाम लेकर एक-एक दिन चिन्ता में निकलने लगा।

कितनी-कितनी बार बैठ कर राकेश जी का पहली मुलाक़ात वाला चेहरा याद करने की कोशिश करती लेकिन याद न आता। आख़िर एक बार ही तो मिले थे और उसको भी दो-ढाई साल हो चुके थे—कहाँ से याद रहता? फिर अचानक 'नयी कहानियाँ' का अंक हाथ लगा। उसमें उन दिनों 'मेरा हमदम मेरा दोस्त' सिरीज़ निकल रही थी। कमलेश्वर जी का 'हमदम राकेश' पढ़ा भी और देखा भी। फोटो बहुत अच्छी लगी थी—पता नहीं कितनी-कितनी बार निकाल कर देख भी ली थी लेकिन 'लेख'—'राकेश होटलों और डाक बंगलों में रहने को ही ज़िंदगी समझता है'—कहीं सबसे बड़ा आश्चय भी लगा। इस सवाल की पुष्टि

करने के लिए मन बहुत लालायित था लेकिन कहीं बहुत असम्भव और असंगत भी लगता था कि इतने अरसे के बाद सिर्फ़ दूसरी मुलाक़ात में ही एक अजनबी इतना बड़ा सवाल किसी से पूछ सकता है। विशेषकर जबकि वह आदमी कोई और न होकर मोहन राकेश ही था। उनका नाम या उनकी फ़ोटो देख कर मैं तो यों ही ढीली पड़ जाती थी। इसलिए माँ से कुछ थोड़े हिन्दी के आवश्यक शब्द यों ही याद कर लिये थे, जैसे -आश्चर्य, असम्भव, मनःस्थिति, प्रत्येक, विचार, आवश्यकता, मोह-भंग, सांत्वना, आदि-आदि। यह बात अलग थी कि इन्हें बोलना तब भी नहीं आता था (यों अब भी नहीं आता है) लेकिन अगर राकेश जी इन शब्दों का प्रयोग करें तो हम लोग कम से कम उस बात पर सिर तो हिला ही सकते थे। पता नहीं कितने-कितने रूप से मैं अपने को लैस करने में लगी रही लेकिन उस सबके बाद भी विश्वास नहीं आता था कि मैं कहीं भी उनके सामने टिक पाऊँगी। पहली मुलाक़ात याद करनी तो बहुत बचकानी लगती थी। और अब—अब तो माँ ने उन्हें यह लिख कर कि मैं भी कहानियाँ लिखने लगी हूँ मुझे और ही मुसीबत में डाल दिया था। कितनी बार सोचती कि पता नहीं राकेश जी मेरे इस नये शौक पर कितना हँसे होंगे। और अब भी, आकर कितना मज़ाक करेंगे और यह भी समझाने की कोशिश करेंगे कि यह काम मेरे बस का नहीं है मुझे छोड़ देना चाहिए, आदि-आदि। दूसरी तरफ़ यह ख़याल आता कि मैं भी कितनी मूर्ख हूँ जो इतना सब सोच बैठी—उनके पास सोचने को क्या यही कुछ रह गया है? फिर माँ को लिखी राकेश जी की एक पंक्ति याद आती—"लगता है अनीता अब बड़ी हो गयी है—उसकी कहानी से तो ऐसा ही लगता है।" मैं अच्छी-खासी दुविधा में पड़ गयी थीं क्योंकि न तो मैं छोटी ही थी और न ही बड़ी ही हो पायी थी। फिर...क्या होगा? गुस्सा आता कि यह कहानी लिखने का रोग मुझे कहाँ से आ लगा। और अगर लगा भी तो राकेश जी को क्यों बताया—और अगर बता भी दिया तो यह कहाँ से ज़रूरी हो गया कि मैं बड़ी हो गयी हूँ। मुझे ज़िंदगी में पहली बार 'बड़ी' शब्द एक समस्या लगने लगी थी। इस शब्द को स्वीकार करूँ या अस्वीकार...?

राकेश जी उस रात दस बजे फ्रन्टियर मेल से ग्वालियर पहुँच रहे हैं, यह हम एक-दूसरे के चेहरे से पढ़ सकते थे। भाई सबसे ज़्यादा एक्साइटेड था। उसे ही स्टेशन पर राकेश जी को लेने का जाना था। और मुसीबत यह कि उसने राकेश जी को एक बार भी पहले नहीं देखा था। उसे बार-बार दिन में फ़ोटो दिखायी गयी वह दुःखी हो गया। बोला, "ऐसे फ़ोटो दिखा रहे हो जैसे किसी को गिरफ़्तार करने जा रहा हूँ। अरे लेखक आ रहा है न—दूर से ही पहचान लूँगा।"

माँ ने भी पलट कर पूछ लिया, "अच्छा बता कैसे पहचानेगा?" भाई बोला, "हाथ में किताबें ही किताबें होंगी और जेब में पेन ही पेन होंगे और दृष्टि...।"
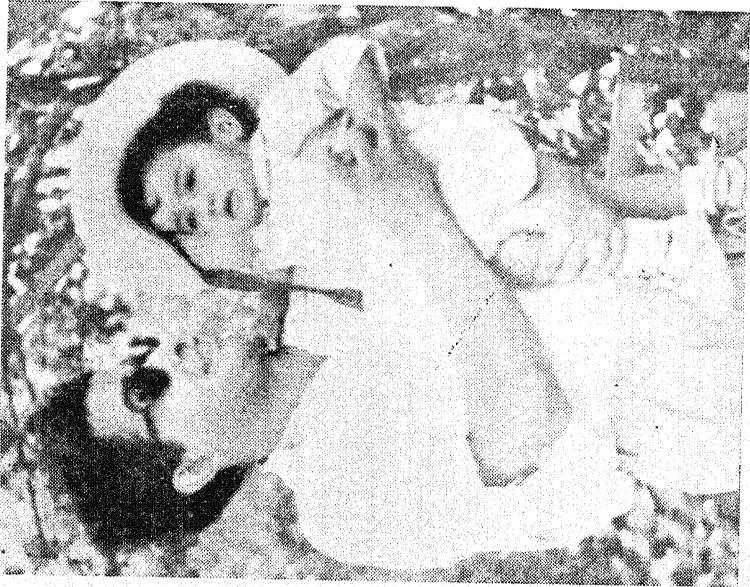
राकेश अपने बड़े पुत्र नवनीत के साथ

राकेश पुरवा और शैली के साथ

राकेश अपनी अम्मा के साथ

राकेश, छोटा भाई वीरेन और अम्मा
वीरेन के सीलोन जाने के समय

अभी बात पूरी भी नहीं हुई थी कि डैडी बीच में बोले, "तूने तो अच्छे-ख़ासे लेखक का क्लर्क बना कर रख दिया।" और भी बहुत मज़ाक हुए। हमने माँ से पूछा कि राकेश जी के बेड के पास दीवार पर कागज़ चिपका दिये हैं कि नहीं क्योंकि हमने माँ से सुना हुआ था कि लेखकों को रात को नींद में भी आइडियाज़ आते रहते हैं। माँ हमारे मज़ाकों से बहुत दुःखी हो गयी थीं हालाँकि हँसती बराबर रहीं। उसके साथ-साथ यह भी कहतीं कि राकेश जी के आने पर हमारे किये गये सब मज़ाक उन्हें सुना देंगी तो हम माँ से माफी माँगते और कसम खाते—"अब और मज़ाक नहीं करेंगे। आप उन्हें न बतायें।"

हालाँकि यह बात सच है कि जब हम छोटे थे तो कहानियाँ पढ़ कर इतने प्रभावित होते थे कि हमें सच लगने लगती थी। सिर्फ़ इतना ही नहीं, हमें पढ़ कर विश्वास हो जाता था कि लेखक ने छुप कर सब कुछ सुना और देखा है। लेकिन ताज्जुब यह होता कि कहानी पूरी हो जाती और वह छुपा हुआ लेखक पकड़ा नहीं जाता था। नहीं तो कहानी में वो भी आ जाता। और अगर शर्म खाकर वो यह न भी लिखता तो कम से कम कहानी तो पूरी नहीं कर सकता था। और अगर पूरी हो गयी तो ज़ाहिर है कि नहीं ही पकड़ा गया होगा। कई-कई बार लेखक पर दया आती कि इतनी आँधी-तूफान में भी अपने पात्र का पीछा कर रहा है। फिर कभी-कभी पात्र पर दया आती कि हालाँकि लेखक उस पर किये गये अत्याचार को छुप कर देख रहा है लेकिन फिर भी सहायता नहीं कर सकता, आदि-आदि...।

सड़क के मोड़ पर हार्न बजा तो एहसास हो गया कि राकेश जी आ गये हैं। घड़ी पर नज़र दौड़ायी तो देखा ग्यारह बज चुके थे। गाड़ी जब घर के आगे रुकी तो डैडी और ममी उन्हें रिसीव करने बाहर चले गये और मैं ड्राइंग-रूम से निकल कर पीछे बेड-रूम में चली गयी। फिर धीरे-धीरे आवाज़ें अंदर आने लगीं। फिर शायद सब बैठ गये थे। माँ ने हस्बेमामूल मुझे आवाज़ दी। अब मेरे लिए आफ़त! लग रहा था। जैसे दिल बाहर निकल कर मेरी आँखों के सामने धड़क रहा है। मुझे समझ नहीं आ रहा था कि अचानक यह सब क्या होने लगा है। मुझे अपनी सब दृढ़ता समाप्त होती-सी लग रही थी। लग रहा था कि इस बार तो वो पड़ेगी जो कभी नहीं पड़ी। लेकिन इलाज...इलाज ही समझ नहीं आ रहा था। फिर दूसरी आवाज़...। मैं विना कुछ भी सोचे सीधी ड्राइंग-रूम में दाखिल हुई और एक 'नमस्कार' टिका कर पास के स्टूल पर जा बैठी। राकेश जी ने भी नमस्कार किया और फिर शान्ति छा गयी। फिर धीरे-धीरे बातें शुरू हुईं जो मैं नहीं सुन पायी। शायद इसी पर बात चली कि भाई ने और राकेश जी ने एक-दूसरे को कैसे पहचाना। मेरा ध्यान कहीं और था। मैं शायद यह सोच रही थी कि वहाँ से किस बहाने बाहर चली जाऊँ। क्योंकि पता नहीं, क्यों मैं कुछ अतिरिक्त नर्वस

हो रही थी। मैंने माँ से पूछा, "कॉफ़ी बनाऊँ?" तो माँ ने जवाब दिया कि जिनके लिए बनानी है उन्हीं से क्यों नहीं पूछती। यह एक और मुसीबत पैदा हो गयी। लेकिन कोई चारा नहीं था। राकेश जी से पहली बार आँखें मिली तो शायद वो मेरी नर्वसनेस भाँप गये थे। बोले, "अगर तुम चाहती हो कि सारी रात न सोऊँ तो ज़रूर बना लाओ।" यह एक और मुसीबत। मुझे कोई जवाब नहीं सूझ रहा था। उस पर नर्वसनेस और ज़्यादा बढ़ रही थी। फिर उठने की कोशिश की। अभी दरवाज़े तक पहुँची थी कि राकेश जी बोले, "मैं अनीता की कहानी लेता आया हूँ...।" आगे क्या बोले मैं नहीं जानती। सिर्फ़ उनके मुँह से 'अनीता' शब्द ही सुन कर लगा मानो किसी ने पैर वहीं के वहीं कीलों से गाड़ दिये हैं। दरवाज़ा लाँघते ही मैं सीधा किचन की तरफ़ भागी। वहाँ पर भी जाकर कुछ नहीं बना। राकेश जी की वाइब्रेटिंग वॉयस मेरा पीछा वहाँ भी करती रही। यह आवाज़, ओफ़! कितने ख़ुशनसीब हैं वो जो सुबह-शाम यह आवाज़ सुनते होंगे! और कैसे कॉफ़ी बन गयी, मुझे पता नहीं चला।

"तो तुमने यही फ़ैसला किया है कि मैं सो न सकूँ।" मैं चौंकी। देखा — हम दोनों के बीच सिर्फ़ एक प्याला कॉफी थी और एक बहुत बड़ा सवाल।

गर्मियों के दिन थे। माँ ने राकेश जी से पूछा कि वह बाहर सोना पसन्द करेंगे या अन्दर कमरे में। राकेश जी ने अन्दर सोना चुना। कारण बाहर सोने से सुबह-सुबह नींद खुल जाती है जबकि उनकी आदत सुबह देर तक सोने की है।

कह नहीं सकती कि उस रात कॉफ़ी पीने के बाद राकेश जी सो पाये थे कि नहीं लेकिन मैं ज़रूर सिर्फ़ कॉफ़ी पिलाने-भर से ही नहीं सो पायी थीं। भाई और मैं ऊपर छत पर सोये थे और डैडी, ममी और बबू नीचे बाहर दालान में। पता नहीं क्यों, मन कर रहा था कि नीचे जाकर सिर्फ़ इतना झाँक आऊँ कि वो कैसे सोते हैं—पर फिर माँ की शक्ल आगे आते ही पसीने छूटने लगते। फिर दिमाग़ में आता कि क्यों मैं राकेश जी को लेकर इतनी ज़्यादा परेशान और जिज्ञासु होने लगी हूँ। आखिर ऐसी भी क्या बात है! आज तक कितने लोग घर में आये और गये लेकिन इस तरह किसी को सोते-जागते-खाते-बोलते-देखते रहने को कभी मन ही नहीं हुआ। लेकिन इस सब दुविधा के बावजूद पता नहीं क्यों, उस रात उस खुले नीले आकाश के नीचे पहली बार मैंने अपने आप को इतना आज़ाद और उन्मुक्त पाया। पता नहीं क्यों अपने पर पहली बार ऐसा विश्वास हुआ कि मैं उस पूरे आकाश में उड़ान भर सकती हूँ और कितनी-कितनी खोयी हुई दिशाओं को अपने अन्दर समेट सकती हूँ।

कितनी-कितनी बार मन में आया कि नीचे भाग कर जाऊँ और राकेश जी

से कहूँ की कि देखो मैंने सुना और पढ़ा है कि तुम बहुत दु:खी आदमी हो लेकिन क्या तुम अपना दु:ख मेरे साथ बाँट सकते हो—फिर यहाँ भी उन्हें बताऊँगी कि मैं भी एक बहुत ही दु:खी लड़की हूँ, इसी से शायद मैं तुम्हारा दु:ख ज़्यादा अच्छी तरह समझ सकूँगी। यह बात अलग है कि तुम्हारे दु:ख को सब जान गये हैं क्योंकि तुम एक जाने-माने लेखक हो—लेकिन मेरा दु:ख कोई नहीं जान सकता क्योंकि मैं हिन्दुस्तान की इतनी बड़ी आबादी में खोयी हुई एक बहुत ही मामूली-सी लड़की हूँ। यही सब बातें सोचते-सोचते तकिया गीला होता रहा। फिर कब आँख लग गयी— कह नहीं सकती।

सुबह-सुबह सारा परिवार उठा हुआ था, लेकिन उसके बावजूद भी घर में बहुत ज़्यादा शान्ति थी। कारण राकेश जी सो रहे थे और सभी लोग बात करने के नाम पर सिर्फ़ एक-दूसरे के कान में फुसफुसा रहे थे। कभी बबू ही ग़लती से थोड़ा ऊँचे बोल देती तो उसे दूर से ही आँखें दिखायी जातीं। लेकिन यह भी सच है कि सभी अब राकेश जी के जागने का ही इंतज़ार कर रहे थे। जब वह नहीं जागे तो हार कर मैंने माँ से कहा कि हम बेड-टी बना कर उन्हें उठा देते हैं। पहले तो माँ टालती रहीं लेकिन जब थोड़ा समय और निकल गया तो खुद ही मान गयीं। मैंने ट्रे बनायी और परदा हटा कर सीधे उनके कमरे में चली गयी। थोड़ी देर खड़ी उन्हें सोते देखती रही। फिर घबराहट में यही नहीं सूझा कि उन्हें क्या कह कर उठाऊँ। ट्रे रख कर मैं सीधे बाहर गयी कि माँ से पूछ आऊँ कि किस नाम से और कैसे उन्हें उठाना है। माँ को मेरी बात सुन कर हँसी आयी। बोलीं, "बस शोर ही शोर था तेरा भी। चल मैं चलती हूँ।" अन्दर आये तो राकेश जी उठ चुके थे। बोले—"अरे, ट्रे रख कर बाहर क्यों भाग गयी? चाय नहीं पिलानी है क्या?" मैं झेंप गयी क्योंकि मुझे अब यह भी डर लग गया था कि क्या इन्होंने मुझे खड़े देख कर उन्हें देखते भी तो नहीं भाँप लिया था।

मैं चाय बनाने लगी तो माँ रसोई में बिस्कुट लेने चली गयीं। इसी बीच मैं मैंने राकेश जी से पूछ लिया कि वह कहानी कब सुधरवायेंगे। तो बोले, "सिर्फ़ उसी का इन्तज़ार है क्या?" मुझ से आगे और कोई बात नहीं हुई। हर बार कितनी हिम्मत करके उनके सामने आती थी कि जाने क्या-क्या कहूँगी लेकिन उनकी आवाज़—उस पर सधा-सधाया जबाव—मेरी तो बोलती ही बन्द हो जाती थी। माँ कमरे में आयीं तो साथ पूरा परिवार था, सिर्फ़ डैडी ही फैक्टरी जा चुके थे। चाय का दौर अनुमान से ज़्यादा लम्बा हो गया था। कितनी प्यालियाँ खाली हुईं और कितने ठहाके हवा हुए! उनका ठहाका लगा कर पीछे सिर फेंकना मुझे बहुत ज़्यादा प्रभावित कर गया। बहुत ताज्जुब होता था कि उतना दु:खी आदमी इस क़दर उन्मुक्त होकर हँस भी सकता है! मैंने इस बीच कितनी बार अपने आप को लानत भी दी!

चाय का दौर समाप्त हुआ तो वह अपने आटोमेटिक शेवर से शेव करने लगे। हम लोग अपने-अपने कमरों में चले गये और माँ नाश्ते की तैयारी करने रसोई-घर में चली गयीं। बबू को उनके शेव करने का नया तरीक़ा बहुत ही अच्छा लगा। वह उनके पास बैठी उन्हें ताकती रही। फिर दोनों की बात चीत शुरू हो गयी। राकेश जी ने पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है ?"

"सुनीता।"

"कितने साल की हो ?"

"छः साल की।"

"कौन-सी क्लास में पढ़ती हो ?"

"फ़र्स्ट में।"

"तुझे क्या-क्या आता है ?"

"पहाड़े...दो एकम दो, दो-दूनी चार...।"

"अच्छा तुम्हें कलकत्ते का पहाड़ा आता है ?"

"नहीं," उसने आश्चर्य से कहा।

"मुझे आता है। दो एकम दस। दो-दूनी पचास...।"

"और मुझे बम्बई का पहाड़ा भी...।"

अभी बात पूरी भी नहीं हुई थी कि बबू मेरे पास भागी-भागी आयी। "दीदी, राकेश अंकल (वह अब भी राकेश जी को राकेश-अंकल के नाम से ही बुलाती थी) को बम्बई का, कलकत्ता का भी पहाड़ा आता है।"

मैं दूसरे कमरे में उनकी बातें सुन रही थी। मुझे हँसी आ गयी। बोली, "बबू, आपके राकेश-अंकल को सब कुछ आता है—सच।"

नाश्ता लग गया था। हम सब लोग टेबल पर आ गये थे। माँ कटलेट्स निकाल रही थीं और मैं सिर्फ़ नर्वसनेस से बचने के लिए ही रसोई में उनकी सहायता करने चली गयी थी। थोड़ी देर में बाहर से आवाज़ आयी, "यह आप बना रही हैं या अनीता ?"

ममी ने भी अन्दर से ही आवाज़ दी। "अरे, यह कहाँ सीखती है ! पता नहीं शादी हो गयी तो क्या होगा ?"

"शादी तो जब होगी देखी जायेगी। लेकिन इस वक्त तो नहीं हो रही न। कम से कम बाहर आकर हमारे साथ तो बैठ ही सकती है। फिर शादी हो गयी तो इतने से भी जायेंगे।" फिर वही ठहाका।

मैं बाहर आयी तो और भी नर्वस हो चुकी। मुझे अब विश्वास हो गया था कि मुझसे कुछ भी ठीक नहीं हो सकेगा। मैं जो भी करूँगी वो किसी न किसी तरह से ग़लत ही होगा। राकेश जी ने दो बार 'चाय-चाय' कहा तो कहीं तीसरी बार मुझे सुनायी दी। चाय की प्याली थमाते मैंने एक बार और उनकी आँखों में

विश्वास के साथ देखना चाहा लेकिन...नहीं। एक ऐसा व्यक्तित्व जो अपने में बुलन्द और उस पर बिना किसी प्रकार के काम्प्लेक्सिज़ लिये हुए। मुझे चूहे और शेर की कहानी याद आयी। बहुत मन करता रहा कि राकेश जी को एक बार सुनाऊँ, लेकिन वही समस्या कि बात कौन करे। बात करते ही वो गले पड़ जाते थे।

नाश्ता करते-करते बीच में अचानक उन्हें क्या सूझी कि बोले, "चन्द्राजी, यह कहानी अनीता ने कहाँ से चुरायी है ? आप मुझे तो सच-सच बता ही देंगी। मुझे विश्वास है।" माँ हँसती रही फिर बोलीं, "इसी से पूछिये।"

"अच्छा तो फिर तुम्हीं बताओ।" उन्होंने एक ठहाका लगा कर मेरी तरफ़ देखते हुए पूछा। मन तो यह कर रहा था कि पूछूँ कि कहानी अच्छी है इसीलिए पूछ रहे हैं न, लेकिन मुँह पर यही बात आ रही थी कि आज नाश्ता नसीब नहीं होता लगता।

नाश्ता ख़त्म हुआ तो माँ अपने पुलिन्दे उठा लायीं। अब बोरियत शुरू हुई। मैं नहीं जानती कि राकेश जी पूरे ध्यान से सुन रहे थे या नहीं। हाँ, इतना निश्चित था कि जब भी मैं उनकी तरफ़ नज़रें करती मैं उन्हें अपनी तरफ़ देखते पाती। कितनी-कितनी देर तक नज़रें उलझी रहतीं। कितने सवाल गये और कितने जवाब आये, उन्हें शब्दों में नहीं ढाला जा सकता।

(शब्द...? लेकिन शब्दों तक तो बात आ ही नहीं पायी थी। अपनी खामोशी में ही उठती और उसी ख़ामोशी में बह भी जाती। वह ख़ामोशी अपने में इतनी पूर्ण थी कि शब्द उसके आगे बहुत बेमाने लगते थे। लगता था कि किसी ने भी कोई भी बात की तो बात वहीं खण्डित हो जायेगी।)

शाम को तय हुआ कि फिल्म देखने चलेंगे। मुझे फिल्म का नाम भी याद है—'दिल एक मन्दिर'। माँ ने बहुत दिलेरी दिखायी। मुझे राकेश जी के साथ बैठने का मौक़ा दिया। फिल्म के दौरान कितनी बार एक ही हत्थे पर दो बाहें टकरायीं, कितने-कितने स्पन्दन हुए ! फिर मेरा रूमाल नीचे गिर गया था। उसे उठाने के लिए झुकी तो अनजाने में ही हाथ राकेश जी के पैरों से जा छुये। अजब स्थिति हो गयी थी। लेकिन खामोश रही—उस खामोशी का जवाब भी उसी तरीक़े की एक खामोशी से ही दिया गया।

रात को तय हुआ कि खाना खाने के बाद राकेश जी मेरे साथ बैठ कर कहानी सुधरवा देंगे। नतीजा वही, खाना भी ठीक से नहीं खाया गया। हालाँकि सिटिंग काफी देर तक चली लेकिन फिर भी सिर्फ़ काम की बात ही ठीक से हो सकीं—जब-जब कोई और बात करने की नौबत आती एक लम्बी खामोशी हम दोनों पर छाने लगती। बीच में कभी-कभी माँ आकर चाय-कॉफ़ी पूछ जातीं तो हम दोनों एक लम्बी स्वभाविक साँस खींच लेते। उसके बाद फिर वही मूक भाषा!

कहानी का कलेवर कैसा होना चाहिए, यह वो मुझे अच्छी तरह समझा सके थे—और यह भी कि जब तक अपनी लिखी चीज़ खुद नहीं सुधारूँगी कभी नहीं सीख सकूँगी। यह तो उस प्रश्न का उत्तर था जो मैंने उनसे पूछा था, अन्य प्रश्नों का उत्तर नहीं मिला क्योंकि वह पूछे ही नही गये थे—इसलिए हम दोनों के बीच अब भी वह बहुत वड़ा सवाल था जिसे न मैं ही छूती थी और न वह ही छूते थे। नतीजा—एक अजीब सी खामोशी में गिरफ़्तार थे। लगता था कि बात करने से उस खामोशी की सेन्कटिटी खण्ड-खण्ड हो जायेगी। अब कम से कम उस खामोशी का अपना तो एक अर्थ था ही।

अगले दिन रात को राकेश जी को चले जाना था। कुछ दिन दिल्ली में रह-कर वो शिमला चले जायेंगे—ऐसा उन्होंने बतलाया था। शिमला जाकर वो अपना दूसरा नाटक 'लहरों के राजहंस' पूरा करेंगे—उसके बाद—उसके बाद शायद वो हमेशा के लिए विदेश जाकर बस जाना चाहते थे। "विदेश ? विदेश में क्या रखा है," मैंने उनसे पूछ लिया था।

"तुम...तुम बहुत छोटी हो...और क्या कहूँ। तुम्हारे लिए शायद यही जवाब काफी होगा कि विदेश में कुछ नहीं है इसीलिए जाना चाहता हूँ। क्यों अब तो ठीक है न ?" उन्होंने हलके से मेरा हाथ दबा दिया था। दबाते के साथ ही मैंने उनका हाथ अपने माथे पर लगा दिया और कहा, "अब कसम खाकर फिर यही बात कहो।" फिर वही खामोशी और उस खामोशी में ही उस बार वह दिल्ली लौट गये थे।

ज़िदगी में पहली बार माँ ने मुझे शाबाशी दी थी, जिसे मैं अन्दर से कबूल नहीं कर सकी थी। माँ को लगा था कि राकेश जी हमारे यहाँ से बहुत खुश-खुश गये थे, लेकिन यह सिर्फ़ मैं और सिर्फ़ मैं ही जानती थी कि वो किस डावाँडोल मन:स्थिति में वहाँ से लौटे थे। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि वह बहुत दु:खी हो कर गये थे—अर्थ सिर्फ़ इतना है कि वो जो बीज पीछे डाल गये थे उस बीज पर उन्हें खुद भी विश्वास नहीं था—उन्हें क्या, मुझे भी नहीं था। तभी जब माँ ने मुझसे कहा था कि राकेश काफी स्वस्थ होकर गये हैं तो मैंने उनकी बात काट कर कहा था—"कि क्या कभी कोई इस तरह से और इतनी जल्दी से स्वस्थ हो सकता है—और कि क्या किसी के जीवन में पैदा हुई इस किस्म की कमी को कभी कोई भी भर सका है—फिर बाहर से स्वस्थ और अन्दर से अस्वस्थ होना क्या कोई माने रखता है ? यह बात अलग है कि राकेश जी का व्यक्तित्व ही अपने में इतना बुलन्द है कि यह बातें उनके आगे इतनी गौण लगती हैं। लेकिन साथ ही इन्हें कोई नज़रअन्दाज भी तो नहीं कर सकता।" मेरे आगे फिर से

कमलेश्वरजी का 'मेरा हमदम मेरा दोस्त' चक्कर काटने लगा। मैंने कई-कई बार उस लेख को अपनी तरफ़ से संशोधन कर-करके पढ़ा लेकिन बात नहीं बनी। एक प्रश्न हमेशा सामने आ जाता था कि 'कैसे' ? और 'कैसे' से उत्पन्न हुआ वही एक बहुत बड़ा सवाल जिसके एक छोर पर राकेश जी थे और दूसरे छोर पर मैं— दोनों मौन।

फिर दिल्ली पहुँचते ही राकेश जी ने तीन ख़त लिखे। एक माँ के नाम जो सबसे बड़ा था जिसमें माँ को उनकी बहतरीन मेहमानवाज़ी के लिए कोटि-कोटि धन्यवाद भेजे थे दूसरा भाई को और तीसरा मुझे जो सबसे संक्षिप्त था :

"प्रिय अनीता, कहानी सुधार लो तो एक बार ज़रूर पढ़ने के लिए भेज देना। और क्या लिखूँ ! सस्नेह, राकेश।"

फिर और ख़त आये—कुछ शिमला से और कुछ कुफ़्री से। सभी चिट्ठियों में अपने रोज़ का कार्यक्रम और कि कितना-कितना काम नाटक का पूरा होता जा रहा है, लिखते थे। इधर से भी बराबर पत्र जाने लगे। उन पत्रों में से एक पत्र उदाहरण के लिए दे रही हूँ।

प्रिय अनीता,

तुम्हारा पत्र मिला। मैं नहीं जानता कि मैं तुम्हें क्या लिखूँ। जो प्रश्न तुम मुझसे करती हो उन्हीं प्रश्नों में मैं खुद उलझा हुआ हूँ।

आज दिन-भर काम किया। फिर शाम को डेरीकास में ठंडी बीयर पी और तली मछली खायी। बाहर निकला तो बारिश हो रही थी। छाता पास में नहीं था इसलिए भीगता हुआ घर (?) पहुँचा। घर (?) आते ही कै हो गयी—तो तबीयत थोड़ी संभलने लगी। तुम्हारी पढ़ाई कैसी चल रही है, लिखना। चन्द्रा जी को अलग से लिख रहा हूँ।

पत्र दोगी ?

सस्नेह, राकेश

फिर एक बार बहुत दुःखी होकर मैंने उन्हें लिखा था—

प्रिय राकेश जी,

आपका पत्र मिला। मैं बहुत संकट में अपने आपको पाती हूँ। मैं आज तक नहीं जान सकी कि आखिर यह सब है क्या ? क्या आप यही चाहते है कि मैं ख़ुद ही अपने मुँह से वो सब कहूँ जो आप कहना चाहते हैं ? शायद

इसलिए क्योंकि आप समझते हैं कि मन की बात कहने से आदमी छोटा हो जाता है ?

पत्र देंगे ?

आपकी
अनीता

जवाब आया लेकिन फिर भी सीधा नहीं।

प्रिय अनीता,

कल भी बहुत उम्मीद लेकर पोस्ट आफिस गया था लेकिन मेरे नाम का कोई खत मुझे वहाँ नहीं मिला। आज फिर गया था तो तुम्हारा यह खत मिला।

कल नाटक पूरा हो गया था और आज ही श्री ओंप्रकाश और कमलेश्वर मुझसे मिलने आये हुए थे—ऊपर से तुम्हारा यह खत मिला। जानती हो कितनी खुशियाँ एक साथ ही मिलीं ! मुझसे रहा नहीं गया, इस लिए मैंने आज दोनों से बात कर ली हैं।

तुम्हारे लिए सिर्फ़ इतना ही कि नाटक फ़ेयर करने बैठा तो केवल दो ही पृष्ठ टाइप कर पाया। एक पृष्ठ पर लिखा 'लहरों के राजहंस' और दूसरे पृष्ठ पर 'उस एक को जिसे लगता है कि मन की बात कहने से आदमी छोटा हो जाता है।' आज बस इतना ही फ़ेयर कर पाया।

आशा है प्रसन्न होगी ?

सस्नेह
राकेश

इस सब बातों के बावजूद स्थिति सम्भलती नहीं लगती थी। यही लगता था कि प्रश्न-चिह्न और बड़ा और बड़ा, होता जा रहा है। और हम उसके आगे दिन-प्रतिदिन और छोटे, और गौण होते जा रहे हैं। राकेश जी ने नाटक फ़ेयर कर लिया था और वह दिल्ली लौट आये थे कि उन्हीं दिनों मुझे निमोनिया हो गया और डाक्टर के कहने पर मुझे अस्पताल में भरती भी करवा दिया गया। माँ ने राकेश जी को इत्तला भी दे दी थी और यह भी लिखा था कि डॉक्टर ने अनीता को सिर्फ़ मूँगी की साबुत दाल और रस ही खाने को कहे हैं जोकि उन दिनों ग्वालियर में किसी कमी की वजह से आसानी से नहीं मिल पा रहे थे। माँ ने राकेश जी को भी तुरन्त आने को लिखा था।

उन दिनों शायद कमलेश्वर जी को श्री ओंप्रकाश जी ने 'नयी कहानियाँ' के

सम्पादक-पद के लिए ऑफ़र दी थी और शायद राकेश जी उसी सिलसिले में कुछ दिन दिल्ली से ही बँधे रहे थे। ग्वालियर रवाना होने से एक रात पहले राकेश जी और कमलेश्वर जी रात के ग्यारह बजे कोई ऐसी दुकान छानने निकले जहाँ से उन्हें मुँगी की दाल और रस मिल सकें। यह बाद में एक अच्छा-खासा मज़ाक भी बन गया था।

उस बीच में राकेश जी की मेरे नाम आयी प्रत्येक चिट्ठी माँ मुझे अस्पताल देने आतीं और साथ ही उसका जवाब भी ले जातीं। इसी से जब तक राकेश जी ग्वालियर पहुँचे, मैं अस्पताल से घर वापस आ चुकी थी। हालाँकि डाक्टर ने अब भी पूर्ण आराम करने का सुझाव दिया था।

इस बार गाड़ी दिल्ली गयी हुई थी और मुझे याद है कि मोड़ से ही ताँगे में बँधे घोड़े के घुँघरुओं से मुझे पता चल गया था कि राकेश जी घर पहुँच गये हैं।

कितनी बेचैन थी इस बार मैं उनको देखने को! उस दिन वह दोपहर को पहुँचे थे। सर्दियों के दिन थे। मैं रजाई लेकर बिस्तर में लेटी हुई थी कि वह अचानक कमरे में दाखिल हुए। माँ ने उनका स्वागत किया और फिर जल्दी से चाय बनाने रसोई में चली गयीं। राकेश जी एक दम निकट आ गये और मेरे होंठों को चूम कर कानों में फुसफुसाये "आई लव यू।" फिर जल्दी से जाकर सोफ़े पर बैठ गये। होंठ मेरे तब तक भी जल रहे थे जब माँ चाय लेकर कमरे में आ गयीं। इस बीच न तो मैं राकेश जी से नज़रें ही मिला पायी और न कुछ बोल ही सकी।

इस बार माँ के पास राकेश जी के आगे रोने को बहुत कुछ था। घर की व्यवस्था फिर बदतर होती जा रही थी। डैडी और गोयल-अंकल के बीच मतभेद पैदा हो गये थे। लग रहा था कि यह काम भी बन्द करना पड़ेगा। फिर—? उस पर माँ को मेरी चिन्ता, "आप कोई अच्छा-सा लड़का बताइये जिससे मैं कम से कम अनीता की तो जल्दी से जल्दी शादी कर दूँ।" मुझे बैठे-बैठे गुस्सा आ रहा था कि क्या राकेश जी चलते-फिरते 'मैट्रियोनिवल कॉलम' हैं जो यह समस्या भी उनके आगे रखी गयी है। बहरहाल राकेश जी के आगे अब घर की पूरी स्थिति खुल गयी थी। उन्हें कुछ समझ में नहीं आ रहा था। वह चाह रहे थे कि किसी तरह हम दोनों को थोड़े समय का एकान्त मिल जाये जिससे आपस में कुछ बात हो सके लेकिन उसका मौक़ा ही नहीं मिला। बस एक लमहा ही मिला जिसमें मैं जल्दी से उनसे सिर्फ़ इतना ही पूछ पायी, "कि आप ठीक समझें तो मैं माँ से बात करूँ।" जवाब में उन्होंने सिर्फ़ सिर हिला दिया था।

उसके बाद पूरा दिन सिर पर हावी रहा। मुझे अपने अन्दर एक अजब-सा भय पैदा होता लगता कि क्या यह कहीं हम दोनों की अन्तिम मुलाक़ात तो नहीं। लेकिन उसके साथ-साथ यह भी लगता कि आखिर ऐसे भी कब तक चलेगा।

शाम को माँ थोड़ी देर के लिए मन्दिर चली गयी थीं। राकेश जी भी भाई

के साथ थोड़े देर पहले सिगरेट खरीदने चले गये थे। चाह रही थी कि वह जल्दी लौट आयें जिससे किसी नतीजे पर पहुँच सकें। राकेश जी आ भी गये तो सुबह से और भी ज़्यादा परेशान लगे। मैंने पूछा कि क्या बात है तो बहुत देर तक आँखों में देखते रहे, फिर बोले, "मैं एक बहुत बदनसीब आदमी हूँ अन्ना...तुम्हें मेरे साये से भी दूर रहना चाहिए—जैसा कि दुनिया कहती है कि मैं एक असम्भव व्यक्ति हूँ, उसके साथ-साथ मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि मैं एक बहुत ईमानदार आदमी भी हूँ।"

"और अगर एक असम्भव व्यक्ति के साथ-साथ मुझे ईमानदार आदमी पसंद आ जाये तो दोष किसका हुआ...?"

"तुम बहुत छोटी हो...और छोटी के अलावा भोली ज़्यादा हो...एक तरह से अच्छा ही है क्योंकि जिस बात को मैं तुम्हें समझाना चाहता हूँ तुम समझ भी नहीं सकोगी...यह एक तरह से अच्छा ही है...समझने वाले लोग कभी सुखी नहीं हुए...।"

"मैं अभी भी सुखी नहीं हूँ...चाहती हूँ कि कम से कम दुःख की ही रेखा मैं आपके साथ लाँघ सकूँ।"

"मैं राकेश जी से शादी करना चाहती हूँ।" एक बार तो माँ को लगा जैसे मैंने एक और मज़ाक किया है। फिर मुझे अच्छी तरह ऊपर से नीचे तक देख कर बोलीं, "तू क्या यही बात एक बार और दोहरा सकती है ?" इस बार मैंने माँ को अच्छी तरह ऊपर से नीचे तक देखा। सोचा कि आज वो सब भी हो जाये जो अभी तक शेष था। मैं फिर बोली, "मैं राकेश जी से शादी करना चाहती हूँ।" माँ से मेरी यह उद्दण्डता सहन नहीं हुई। वह लपक कर मुझ तक आयीं और मेरे मुँह पर कस कर दो तमाचे लगा कर यह कह कर कमरे से चली गयीं —"ठहर, मैं तेरे डैडी को भी बुला लाऊँ।" माँ जब डैडी को भी ले आयीं तो मुझसे रहा न गया, बोली, "और भी किसी को बुलाना है तो बुला लो।" इस बार डैडी सामने आये, "नहीं, फ़िकर न कर हम दोनों ही काफी होंगे। बोल क्या कहना चाहती है ?"

मैंने एक बार फिर दोहराया, "मैं राकेश जी से शादी करना चाहती हूँ।" इस बार दोनों अच्छी तरह से मुझ पर बरसे। जब थक चुके तो माँ बोली, "वो तो तुझ पर थूकेगा भी नहीं और तू उससे शादी करना चाहती है।" मैं भी अब तक काफी उबल चुकी थी, "यह आप उनके मन की नहीं अपने मन की बात कह रही हैं...क्योंकि...क्योंकि...आप मुझसे जलती हैं...।" मेरे लिए साँस लेना भी मुश्किल हो चुका था और कहने के साथ मैं वहीं ढेर हो गयी। लेकिन माँ का जोश

अब अपने मुक़ाम पर आ चुका था। वह रसोई में गयीं और मसाला पीसने वाली दौरी का डंडा उठा लायीं। फिर क्या हुआ मुझे याद नहीं। हाँ, माँ के अन्तिम शब्द याद रहे, "अब तो मैं तेरे से जलती हूँ...क्या यही सब सुनने के लिए मैंने सारा जीवन संघर्ष किया था ?"

भाई और राकेश जी काफी पहले घर आ चुके थे लेकिन हमारे कमरे के दरवाज़े बन्द पाकर वो सीधा अपने कमरे में चले गये। क्या हो रहा था, इसका उन्हें तनिक भी आभास नहीं हुआ। हाँ, भाई ज़रूर, घर में कुछ गड़बड़ है, भाँप गया था लेकिन वो भी चुप बैठा रहा। जब मेरे कमरे का दरवाज़ा खुला तो वो सीधा अन्दर आया। मेरी हालत देख कर वो डाक्टर को बुला लाया। बाद में राकेश जी से भी कुछ छुपा नहीं रहा। भाई ने सब कुछ बता दिया था। मुझे होश आया तो शायद रात के दो बज चुके थे। सिर फट रहा था और बदन टुकड़े-टुकड़े हुआ-हुआ था। उस रात उन्होंने मुझे अन्दर पलंग पर डाल दिया था। मैंने उठने की कोशिश की। उठ कर बैठी तो फिर खड़े होने की कोशिश की। खड़ी हुई तो फिर चलने की कोशिश की। चल कर सीधे राकेश जी के कमरे में पहुँची। वहाँ जाकर देखा तो वह अँधेरे में बैठे सिगरेट पी रहे थे। मुझे देखते ही उन्होंने मुझे कस कर बाँहों में भर लिया। पहली बार मुझे पुरुष की बाहें और सीने की सबलता से सम्पर्क हुआ था। पहली बार मैंने एक पुरुष के जिस्म की गंध पहचानी थी। पहली बार मैंने किसी की साँसों में अपनी साँसों को मिल जाने दिया था। और पहली बार ही किसी पर अपने आपको बिलकुल छोड़ देने का विश्वास पाया था। उन्होंने, "अन्ना...मेरी अन्ना...मेरी अपनी अन्ना..." कह-कह कर मुझे ऊपर से नीचे तक चूम-चूम लिया था। काफी देर मैं उसी तरह उनके कंधे पर गिरी रही...फिर जब उनमें एक कमज़ोरी-सी आने लगी तो किसी तरह अपने कमरे में चली आयी। पलंग पर लेटने के बाद एहसास हुआ कि जिस्म पहले से भी ज़्यादा जल रहा था।

सुबह भाई मुझे चाय देने आया था। डैडी फैक्टरी जा चुके थे और मम्मी राकेश जी के कमरे में उनसे बातचीत कर रही थी। एक तरह से अच्छा ही हुआ था क्योंकि अँधेरे में जो कुछ ढँका हुआ लगता था वही सुबह की रोशनी में अपना नंगापन लिये हुए था।

देर दोपहर तक माँ राकेश जी से बात करती रहीं, फिर खाना खाने के बाद माँ और राकेश जी मेरे कमरे में आ गये। मैंने किसी से भी नज़रें नहीं मिलायीं, सामने दीवार पर देखती रही। लेकिन पता नहीं राकेश जी के मेरे कमरे में आकर बैठने से ही मेरी आँखों से बरबस आँसू बहने लगे। मैं चुपचाप रोती रही लेकिन बोली कुछ नहीं। तभी माँ बोली, "देख रहे हैं न आप...बस रोती रहेगी, कुढ़ती रहेगी।" मुझे माँ की जतलायी हमदर्दी पर गुस्सा आ रहा था, लेकिन उससे यह बात ज़रूर ज़ाहिर हो गयी थी कि राकेश जी की तरफ़ की बात भी माँ

सुन चुकी हैं।

"देखो अनीता...हम लोगों ने कुछ फैसले लिये हैं...।" राकेश जी की आवाज़ से लगा कि वह काफी आश्वस्त होकर आये हैं। पर पता नहीं क्यों, मुझे किन्हीं भी लिये गये फैसलों को सुनने की इच्छा नहीं हो रही थी क्योंकि मुझे उनमें विश्वास नहीं था। राकेश जी का आश्वस्त होना लाज़मी था क्योंकि वो खुद एक बहुत ईमानदार आदमी थे। "तुम्हें अपनी पढ़ाई पूरी करनी चाहिए...फिर उसके बाद कोई जाब ले लेना...हो सकता है कि तब तक पुष्पा से मेरा सम्बन्ध-विच्छेद भी हो जाये...।" ऐसा ही कुछ राकेश जी बोल रहे थे और मुझे लग रहा था कि यह भाषा उनकी नहीं, मेरी माँ की भाषा है। मुझे भी विश्वास था कि माँ के पास यह 'सम्बन्ध-विच्छेद' का सबसे बड़ा हथियार है और वो यह हथियार चला कर राकेश जी को कमज़ोर कर सकती थीं। मेरा अपनी माँ के बारे में कभी भी अनुमान ग़लत नहीं हो सकता था, यही मैं राकेश जी को समझाना चाहती थी। लेकिन समझाती किसे...जिसे समझाना था वो तो खुद ही अपनी कमज़ोरी से सचेत था। राकेश जी को इस तरह माँ के आगे एक कठघरे में खड़ा देख कर मैंने अपने आप को बार-बार लानत दी। (जिस आदमी की ज़िन्दगी उसकी अपनी सम्पत्ति रही है उसके बारे में आज किसी को भी कुछ भी कह सकने का अधिकार आखिर किसने दिया था ? मैंने न ! मुझे लगा कि मेरी वजह से आज अपनी माँ के सामने मैंने उस व्यक्ति को कितना-कितना छोटा कर दिया है ! आखिर वो होती कौन हैं जो आज राकेश जी की ज़िन्दगी के लिए फैसले ले रही हैं—क्या सिर्फ़ इसीलिए नहीं कि उस व्यक्ति के मन में उनकी लड़की को लेकर कहीं स्नेह उत्पन्न हुआ था) क्या उसी बात की सज़ा वो आज नहीं भोग रहे ? एक इतना बड़ा व्यक्ति जिसके बारे में माँ आज तक इतने पुल बाँधती आयी थीं, जिसके लिए उनके मन में इतना ऊँचा मान और सम्मान था आज उन्हीं के सामने इतनी कम्प्रोमाइज़िंग सिचुएशन में बैठा हुआ है ! क्या इस सबका उत्तरदायित्व मुझ पर नहीं था ?

"मैं अपना दाहिना हाथ भी इसके लिए काट सकता हूँ...मैं इसके लिए सब कुछ कर सकता हूँ...लेकिन सम्बन्ध-विच्छेद कब होगा इसके बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता...वो अनिश्चित समय क्या बहुत अनिश्चित नहीं होगा...यह मैं सिर्फ़ आप लोगों की असुविधा को ध्यान में रख कर ही कह रहा हूँ।"

"यह बात तो अपने आप ही आप तक आ गयी। समय अपने आप ही सिद्ध कर देगा कि आप इससे कितना स्नेह करते हैं। आखिर राम ने भी तो धनुष तोड़ने पर ही सीता को हरा था।"

ओफ़ ! ओफ़ ! ओफ़ ! मैं चाह रही थी कि माँ की आदर्श फार्मूलेबाज़ी को किसी भी क़ीमत पर बन्द करवा सकूँ। लेकिन क्योंकि मैं नहीं चाहती थी कि

राकेश जी अपने आप को और एम्ब्रेस्ड महसूस करें इसीलिए चुपचाप हम दोनों बैठे उनसे शिक्षा ग्रहण करते रहे।

सबसे अन्त में तय यह आ कि दो-तीन महीनों में जब डैडी यहाँ का व्यापार वाइन्ड-अप करके परिवार सहित दिल्ली वापस आ जायेंगे तो बाकी बातें वहीं होंगी। भाई का बहुत पहले ही राकेश जी के साथ इलाहाबाद होते हुए दिल्ली चले जाने का प्रोग्राम बन चुका था। इसलिए इस प्रोग्राम में कोई नया हेर-फेर नहीं हुआ। राकेश जी को इलाहाबाद किसी गोष्ठी में सम्मिलित होना था ऐसा उन्होंने हमें बताया था। राकेश जी भाई को साथ ले गये ये और कुछ दिन दोनों श्री उपेन्द्रनाथ अश्क जी के घर ठहरे थे।

शाम को माँ नियमित रूप से मन्दिर जाती थीं। उस दिन भी गयी थीं। कुछ घड़ियों के लिए और हम लोग अकेले थे...।

'..'

"कौन-सी पढ़ाई, कौन-सी जाब, कौन-से फैसले...मुझे तो सिर्फ़ जीने में भी विश्वास नहीं हैं। अगर विश्वास है तो सिर्फ़ आपके अस्तित्व में...आपके होने में...आपके बोलने में...आपके सब कुछ में...और इस सबको पाने में पता नहीं कितने तूफ़ान और कितने ज़लज़ले आयेंगे...बहुत सम्भव है कि उस तूफ़ान और ज़लज़ले में मैं भी नष्ट हो जाऊँ...!"

"कौन-सा व्यक्ति, किसका विश्वास, किसका अस्तित्व...?" उन्होंने मेरा चेहरा अपने हाथों में लेकर अपने सीने में छुपा लिया...।

हमें ग्वालियर हमेशा के लिए छोड़ देना पड़ा। डैडी का व्यापार एक बार फिर ठप्प हो गया था और हमारा भविष्य एक बार और अनिश्चिता के साये में खो गया। हम लोग दिल्ली किस दिन और किस गाड़ी से पहुँच रहे हैं, इसकी सूचना माँ ने राकेश जी को दे दी थी।

उस रात गाड़ी में बिलकुल भी नींद नहीं आयी। सारी रात खिड़की से बाहर देखती रही। काला स्याह अँधेरा, धूल और धुआँ इन्हीं से सारी रात जूझती रही। कभी-कभी दूर, बहुत दूर किसी अनजाने शहर की बत्तियाँ ललकार देती मशालें-सी लगतीं। मानो किसी युद्ध की सूचना दे रही हों। मेरा मन आशंका से भर जाता। पता नहीं क्यों मुझे आने वाले 'कल' में विश्वास नहीं हो रहा था। लग रहा था कि गाड़ी की पहियों में चलता युद्ध ही यथार्थ है। उसी इंजन से छूटती सीटी एक चेतावनी है।

चमगादड़ों को बिजली के तारों से लोहा लेते देखा—उससे पैदा होती चीख-पुकार को भी सुना। इस सब से घबरा कर मैंने बाथरूम में शरण ली। धुँधले

शीशे में अपनी बल खाती छाया से घबरा कर वापस उसी खिड़की के सहारे आ गयी। फिर उसी आकाश पर आँखें जमाये बैठी रही जब तक उसी ने हार कर अपना रंग नहीं बदलना शुरू किया। काले से पीला, पीले से गुलाबी और गुलाबी से निर्मल होते मैंने उसे पहली बार देखा था। रात में सोया हुआ कब्रिस्तान अब जाग उठा था। वह दूध को दूध और पानी को पानी कह रहा था।

अभी हमारी गाड़ी पूरी तरह दिल्ली स्टेशन पर रुकी भी नहीं थी कि मेरी आँखों ने राकेश जी को ढूँढ़ लिया। उनकी नज़रें इधर-उधर बेचैनी से घूम रही थीं, जब तक कि डैडी ने पास जाकर उससे हाथ मिला कर उनकी परेशानी को दूर नहीं कर दिया। राकेश जी हमारा सामान पूछते-पूछते हमारे क़रीब आ गये थे लेकिन मैंने नज़रें ऊपर नहीं की··· मुझे भी अच्छा नहीं लग रहा था जिस तरह वो ममी-डैडी के आगे-पीछे हो रहे थे—हमारे लिए कुलियों को ढूँढ रहे थे। बहरहाल सामान बाहर भिजवा कर हम लोग स्टेशन पर ऊपर रेस्त्राँ में नाश्ता करने चले गये। वहाँ पर टेबल के नीचे से उन्होंने मेरे घुटने को हलके से छुआ कि मैं उनकी तरफ़ एक बार तो देखूँ लेकिन मैंने नहीं देखा। क्योंकि मैं नहीं चाहती थी कि मेरी आँखों में मेरा दुःख वो देख पायें। मैंने जवाब में नीचे से ही अपने हाथ को उनके हाथ में सौंप दिया। कितना कोमल और विश्वस्त था वह स्पर्श !

नाश्ते के दौरान तय हुआ कि हम लोग कुछ दिन राजकमल के गैस्ट-हाउस में रह सकते हैं जब तक हम दूसरी रहने की जगह निश्चित नहीं कर लेते। राकेश जी ने बताया था कि उन्होंने यह बात अपने मित्र श्री ओंप्रकाश जी से पहले ही कर ली थी। मैं भी जानतीं थी कि वह जगह सिर्फ़ इसलिए ही राकेश जी ने सुझायी थी क्योंकि वह समझते थे कि कुछ दिन वहाँ रह कर शायद कुछ फैसले किये जा सकते थे।

फैसले...यह अपने में एक बहुत बड़ा व्यंग्य बन कर रह गया था। जो दो-तीन दिन हमने हमने वहाँ राजकमल के गेस्ट-हाऊस में काटे वह किसी भी नाइट-मेयर से कम सुखद नहीं थे। राजा जनक को तो सिर्फ़ एक ही धनुष-बाण पर फैसला ले लेना था लेकिन राकेश जी के आगे तो धनुष ही धनुष और बाण ही बाण रख दिये गये थे। यद्यपि राकेश जी उन सब धनुष और बाणों के लिए तैयार ही हो गये थे, वहाँ मुझे कहीं यह सब सहन नहीं हो रहा था।

"आखिर यह सब किस लिए कर रहे हैं आप ?"

"अन्ना, मैं अपने-आप को बिलकुल भी माफ़ नहीं कर सकूँगा अगर मैं तुम्हें इस घर से बाहर न निकाल सका।"

"लेकिन इन सब बातों को मानने से आप मुझे उभारने की जगह अपने आप को भी उसमें धँसाते जा रहे हैं। यह मैं बिलकुल नहीं होने दूँगी। आपको कल ही अपने आप को इन बंधनों से मुक्त करना होगा, साथ ही यह गेस्ट-हाउस खाली

करने का अन्तिम समय भी देना होगा।"

"फिर तुम भी चली जाओगी...।" उन्होंने कस कर मुझे अपने साथ सटा लिया था।

"यहाँ से जाकर तो शायद मैं कभी आपकी हो भी सकूँगी, लेकिन यहाँ रह कर...बिलकुल भी नहीं...।" यह सब मैंने कहा बहुत आश्वस्त होकर था लेकिन कहने के साथ ही मैं फूट-फूट कर रो पड़ी थी।

अगले दिन वही हुआ जो होना था। माँ के छोड़े गये बाणों को मैंने 'धन्यवाद' सहित उन्हें राकेश जी के सामने ही लौटा दिया—'उद्दण्डता', 'उद्दण्डता' का शोर सारे वातावरण में गूँज गया। बिजली की तारें, डंडे और जाने क्या-क्या राकेश जी के सामने ही मुझ पर बरसाये गये।

मैं अब बेहोश ज़मीन पर पड़ी हुई थी। नाक और कान से लहू बेदर्दी से बह रहा था। चारों तरफ़ लोग मुझे घेरे खड़े हुए थे। उनमें से एक राकेश जी भी थे। उन्होंने शायद माँ को रोका भी था लेकिन "यह मेरा घर है और अपने घर में किससे किस तरह बर्ताव करना चाहिए—मैं अच्छी तरह जानती हूँ।" वातावरण अब बहुत शान्त हो गया था। जो कुछ होना था सो हो चुका था। फ़ैसले भी भी अपनी-अपनी जगह लिये जा चुके थे। राकेश जी मेरे बिलकुल पास आकर बोले, "तुम चल सकती हो—इसी वक्त मेरे साथ...?" मैंने धीरे से आँखें खोली और उनकी तरफ़ खामोश देखती रही। सिर्फ़ इसलिए कि कम से कम अंतिम बार तो उन्हें देख लूँ, जब मेरी तरफ़ से कोई जवाब नहीं आया तो उन्होंने मुझे अच्छी तरह हिला कर पूछा, "क्या तुम चल सकती हो इसी वक्त मेरे साथ...तुम एक बार हाँ कर दो फिर मैं सब कुछ कर सकूँगा...।" उनकी बात सुन-सुन कर मुझे कैसा लग रहा था—यह बताना बहुत ही असम्भव है। यह प्रश्न सुनना और उसका उत्तर देना दोनों ही मेरे वस के नहीं थे। लेकिन...'नहीं' कह कर मैंने अपने आप को एक दम अलग कर लिया था। पता नहीं किस दिल से मैंने वो उत्तर दिया था और किस दिल से उन्होंने वह उत्तर लिया था। वह बहुत बड़ा सवाल और खामोशी जो हम दोनों के बीच कभी कोई अर्थ रखती थी अब खण्ड-खण्ड हो चुकी थी। सब कुछ मेरे आगे घूम-घूम कर चूर हो चुका था। उस चूरे का कभी कोई आपसी रिश्ता था, यह कह सकना भी अब बहुत मुश्किल हो गया था।

मैं जानती थी कि मेरे एक बार भी 'हाँ' कह देने से जो विश्वास राकेश जी में पैदा हो जाता उसका अंजाम क्या होता। फिर न राकेश जी कुछ करने से बचते और न डैडी-ममी ही, जिसे बर्दाशत करना मेरे बस की बात नहीं थी। उससे बचने का एक ही उपाय था—"नहीं।"

राकेश जी ने तुरन्त ही श्री ओंप्रकाश जी को फ़ोन करके बुला लिया और उन्होंने आकर हमें तुरन्त वह गेस्ट-हाऊस खाली करने के लिए कह दिया।

ममी-डैडी ने तय कर जल्दी से बिखरी चीज़ें समेटनी शुरू कीं—अगर किसी बिखरी चीज़ को वो नहीं समेट पाये थे तो वह मैं थी। इतना ही नहीं, उन्होंने मेरा पहरा देना भी शुरू कर दिया। डैडी ने बाहर झाँक कर देखा तो पाया कि राकेश जी और ओंप्रकाश जी टैक्सी का दरवाज़ा खोले हुए हमारे बाहर निकलने का इन्तज़ार कर रहे हैं। उन्हें यह भ्रम हो गया कि वह हमारे बाहर निकलने का इन्तज़ार कर रहे हैं ताकि वह दोनों मुझे वहाँ से उड़ा कर ले जायें। उसी वजह से हम लोग कुछ अतिरिक्त समय के लिए अन्दर ही बने रहे। बीच-बीच में डैडी बाहर झाँक लिया करते थे। उन्होंने यह भी सोचा था कि शायद इस समय भाई आ जाये, लेकिन जब वह नहीं आया तो उन्हें सन्देह हो गया कि वह भी राकेश जी के साथ ही मिला हुआ है। थोड़ी देर बाद राकेश जी और ओंप्रकाश जी भी चले गये।

वहाँ से निकल कर हम लोग अपने नानके चले गये। माँ का बर्ताव मेरे साथ बद से बदतर होता चला गया। कोई तीन-चार दिन के बाद भाई आया। माँ के प्रश्नों की बौछार से वो भीग-भीग गया था। लेकिन जाने से पहले वो मुझे पुरज़ा पकड़ा गया था। मैंने बाथरूम में जाकर खोला।

प्रिय अनीता,

मुझे भूल जाओ, ताकि आगे की ज़िन्दगी में तुम्हें परेशानी न उठानी पड़े—

सस्नेह, राकेश

उस पुर्ज़े को सीने से लगा-लगा कर कितनी बार मैं रोयी—इसके साथ-साथ जितना दु:ख मुझे हुआ वो सब अलग बातें थी, लेकिन एक सुख भी था कि मैंने राकेश जी की बिखरने और किसी भी स्थिति में काम्प्रोमाइज़ नहीं होने दिया।

बीच में एक बार कमलेश्वर जी का एक बहुत संक्षिप्त पत्र आया था।

प्रिय अनीता,

तुम्हारी कहानी 'न जाने क्यों ?' अगर रिवाइज़ हो गयी हो तो भेजना। उसे नये हस्ताक्षर सिरीज़ में प्रकाशित करना चाहूँगा।

भवदीय, कमलेश्वर

माँ ने बिना उस चिट्ठी का उत्तर दिलवाये मेरी कहानी सम्पादक के नाम पोस्ट करवा दी थी। फिर 'नई कहानियाँ' में यह घोषणा भी पढ़ने को मिली थी कि कि नये कहानीकारों की एक-एक कहानी जाने-माने कहानीकार इंट्रोड्यूस करने जा रहे हैं जिसमें मेरी कहानी राकेश जी इंट्रोड्यूस करेंगे। यह पढ़ कर इतनी ज़्यादा

'आधे अधूरे' की शूटिंग के समय पूना में दिनेश ठाकुर (लड़का) के साथ

खुशी हुई थी कि बता पाना बहुत ही मुश्किल है। यह बात इतनी हवा हुई कि आस-पास के लोग पूछ-ताछ भी करने लगे थे। मुझे याद है कि एक बार मैं माँ के साथ 'आजकल' के कार्यालय गयी थी कि मन्मथनाथ गुप्त जी ने मुझसे पूछा, "पढ़ा है कि तुम्हारी कहानी को राकेश जी इंट्रोड्यूस कर रहे हैं। काफ़ी जानते होंगे वह तुम्हें ?" तो मैंने पलट कर जबाव दिया था—"राकेश जी मेरी कहानी को इंट्रोड्यूस कर रहे हैं। मुझे नहीं।" माँ को मेरे बात करने का तरीक़ा बिलकुल भी पसन्द नहीं था लेकिन अब मुझे वो बात बिलकुल भी परेशान नहीं करती थी।

फिर कई बार भाई आया जिससे एक बार फिर राकेश जी के साथ थोड़ा-बहुत चोरी-छिपे पत्र-व्यवहार शुरू करने की सम्भावना पैदा हुई। इस बीच भाई ने माँ को कंविन्स कर दिया था कि मुझे अपनी पढ़ाई नहीं छोड़नी चाहिए और कि किसी तरह इस जुलाई में मैं अपना बी० ए० फाइनल दे ही दूँ, जो कि हर साल किसी न किसी वजह से टलता आ रहा था। उसने मुझे ले जाकर पी० टी० कॉलेज चावड़ी बाज़ार में एडमिशन भी करा दिया। मेरी पढ़ाई की जिम्मेवारी उसने अपने ऊपर ले ली थी। अब कम से कम इतना ज़रूर हो गया कि थोड़ी देर के लिए तो मैं उस वातावरण से बाहर निकल ही सकती थी। सुबह सात से ग्यारह बजे तक मैं खुली हवा में साँस लेने लगी थी। पहले दिन जब मैं कॉलेज पहुँची तो मेरी मुलाक़ात पता है किस से हुई ?—श्री मोहन राकेश से। मुझे विश्वास नहीं हो रहा था। एकदम उन्हें सामने पाकर...। फिर पता चला कि मेरी फीस और किताबों के पैसे भी राकेश जी ने ही दिये थे।

उन्हें एक दम अपने सामने पाकर मुझे समझ नहीं आ रहा था कि मैं क्या कहूँ। वह भी चुप ही रहे। फिर धीरे से मैंने पूछा था—"कैसे हैं ?"

"इसी प्रश्न को करने से मैं अपने आप को रोक रहा था...।"

"मैं अपना प्रश्न वापस लेती हूँ।" इसी के साथ हम विदा हो गये।

धीरे-धीरे राकेश जी मुझे रोज़ सुबह पौने सात बजे कॉलेज के बाहर मिलने आने लगे। सात बजे से मेरी क्लास हुआ करती थी। वहाँ खड़े-खड़े बात करना बहुत अटपटा लगता था। इसलिए मैंने एक दिन राकेश जी को बहुत खुश होकर बताया था कि मैंने पास ही एक हलवाई की दूकान ढूँढी है जहाँ हम लोग थोड़ी देर बैठ कर बात कर सकते है। अब हमने वहीं मिलना शुरू कर दिया। पहले दिन राकेश जी ने मुझ से पूछा कि मैं क्या खाऊँगी तो मैंने बोला, "कुछ नहीं।" लेकिन उनके अनुरोध करने पर मैंने इतनी सुबह भी एक कोका-कोला मँगवा ली। फिर क्या था वह उसी तरह रोज़ अपने लिए पूरी-छोले और लस्सी मँगवाते और मेरे लिए कोका-कोला। उन्होंने इस दिन के बाद मुझसे फिर पूछने या अनुरोध करने की

ज़रूरत ही महसूस नहीं की कि क्या मैं भी कभी 'पूरी-छोले' खाना पसन्द करूँगी कि नहीं। मुझे उनकी इस बात पर रोज़ हँसी भी आती लेकिन यह बात मैंने उनसे कभी नहीं की। (हाँ, बाद में तो कई बार मैंने उन्हें यह बात याद करा-करा कर छेड़ा भी बहुत था। जब कभी वह किसी लड़की या महिला से एपांइटमेंट करते मैं उन्हें अच्छी तरह याद दिला देती कि होटल में अपना आर्डर देने से पहले उससे पूछ लें और सिर्फ़ पूछें ही नहीं अनुरोध भी करें कि वह भी कुछ तो ले ही लें।)

उन मुलाक़ातों का सिर्फ़ एक ही आकर्षण था कि सुबह-सुबह मैं उनसे मिलती थी—उन्हें देखती थी...उन्हें सुनती थी। हालाँकि मेरा यह सुख बहुत मँहगा पड़ता था क्योंकि मुझे भाई से पता चला था कि उन दिनों राकेश जी की माली हालत ठीक नहीं है। उस पर भी वह मुझे लेकर रोज़ डब्ल्यू० ई० ए०करौलबाग़ से चावड़ी बाज़ार तक और वापस टैक्सी में आया-जाया करते थे। यहाँ मैं यह भी बता दूँ कि उन दिनों एक ही घर में सब साथ रहते थे—मेरा भैया, राकेश जी, अम्मा, कमलेश्वर जी, गायत्री भाभी और उनकी एक साल की बिटिया।

सुबह तो राकेश जी से मिल लेती थी लेकिन घर जाते समय एक भय मन में समाया रहता था कि क्या माँ को तो नहीं पता चल गया कि मैं राकेश जी से मिलती हूँ। क्योंकि कुछ ही दिन बाद माँ ने मुझ से पूछा था कि क्या मैं कभी राकेश से तो नहीं मिली तो मैं एकदम चौंक गयी कि क्या उन्हें कहीं पता तो नहीं चल गया। लेकिन जब उन्होंने मुझसे वादा लिया कि मैं उनसे कभी भी नहीं मिलूँ तो मुझे तसल्ली हुई कि यह सिर्फ़ मेरा वहम ही था। मुझे माँ को यह वादा देते बिलकुल भी तकलीफ नहीं हुई थी, क्योंकि राकेश जी से मिलने का वादा मैं इससे पहले उनसे कर चुकी थी।

लेकिन माँ को कहीं पता न चल जाये यह दहशत मुझ में घर से जाते और घर में आते हर वक्त घेरे रहती। इसी दहशत को मन में रख कर मैंने 'कि कहीं फिर सुबह न हो जाये' कहानी लिखी थी जो शायद 'नयी कहानियाँ' में ही छपी थी।

फिर एक दिन राकेश जी ने मुझे बताया कि कुछ दिनों के लिए उन्हें बम्बई जाना पड़े—अपना सामान लाने के लिए। क्योंकि 'सारिका' छोड़ने के बाद वह जल्दी में ही ग्वालियर आ गये थे, और चूँकि अब वह दिल्ली में ही रहेंगे इसलिए घर के लिए उन्हें सब चीज़ों की ज़रूरत पड़ेगी—खासतौर से एयर-कन्डीशनर की क्योंकि इतनी गर्मी में वह कभी भी किसी पहाड़ पर गये बिना नहीं रहे। मैंने पूछा कि कितने दिन लगेंगे तो बोले, "बस गया और आया।" यों अगर कुछ दिन इधर-उधर लग गये तो मैं राजकमल में कमलेश्वर जी को फ़ोन करके पता कर सकती हूँ।

जब तीन चार दिन निकल गये तो मैंने हार कर कमलेश्वर जी को फ़ोन लगाया। उस दिन तक न तो मैं कमलेश्वर जी से कभी मिली ही थी और न कभी

फ़ोन पर बात ही की थी। इसलिए एक अजीब-सी झिझक के साथ मैंने उन्हें फ़ोन पर कहा—"मैं अनीता बोल रही हूँ।"

"हाँ-हाँ, अनीता कहो कैसी हो ?" कमलेश्वर जी ने ऐसे कहा मानो कितने सालों की जान-पहचान हो। अब मुझे और भी शर्म आये कि कैसे इनसे राकेश जी के बारे में पूछूँ। मैंने फिर भी झिझकते हुए पूछा, "आपको क्या राकेश जी बता गये थे...।" अभी बात पूरी भी नहीं हुई थी कि वह बोले, "हाँ, मुझ से उसने सब कुछ बता दिया है।" अब मुझे हँसी आ गयी बोली,"नहीं, उसके बारे में नहीं, उनके बम्बई से लौटने के बारे में।" इस बार कमलेश्वर जी हँसे बोले, "वो अब ज़्यादा दिन वहाँ नहीं रहेगा। विश्वास करो। हो सकता है कि कल तक ही आ जाये। अगर आ गया तो मैं उसे साथ दफ़्तर ही लेता आऊँगा। तुम कल फिर फ़ोन करके देख लेना।"

मैंने अगले दिन फिर फ़ोन किया तो कमलेश्वर जी ने कहा, "यहीं बैठा हुआ है मेरे पास—बात करवाऊँ।" उस उस समय 'हाँ' कहना इतना दुर्लभ हो रहा था लेकिन पूछने वाला अपना मज़ा ले रहा था।

अब रोज़ सुबह मिलने के अलावा एक कार्यक्रम और बन गया था कि शाम को टाइप सीखने जाना शुरू कर दिया था। उस समय मैं राकेश जी को रोज़ फ़ोन भी किया करती। उन्होंने मुझे अपने घर के पास एक पान वाले का फ़ोन नम्बर दे दिया था। पान वाला तो बहुत दिलेर था, लेकिन जहाँ से मैं फ़ोन करती थी मुझे दस मिनट भी बात नहीं करने देता था। आखिर राकेश जी को यह कह कर फ़ोन रखती कि मैं अभी कहीं और से आपको फ़ोन करती हूँ, फिर कोई दूसरी दूकान ढूंढने लगती। इस तरह से एक वक्त में कोई पाँच अलग-अलग दुकानों से रोज़ फ़ोन करती, जिसका मतलब दो रुपये रोज़ सिर्फ़ फ़ोन करने में ही लग जाते। लेकिन चूँकि मेरे फ़ाइनेन्शियर भी राकेश जी ही थे इसलिए इतनी मुश्किल नहीं भी पड़ती थी।

फिर 'सारिका' के नये सम्पादक चन्द्रगुप्त विद्यालंकार जी ने 'सारिका' की तरफ़ से एक गोष्ठी वैंगर्स में रखी थी जिसमें उन्होंने माँ को भी बुलाया था। मैंने यह बात राकेश जी को बतायी तो तय हुआ कि उस दिन शाम को उसी बहाने वहाँ मिलेंगे। मैं माँ के साथ उस गोष्ठी में गयी थी। राकेश जी हमारी सामने वाली टेबिल पर दूर श्रीमती अमृता प्रीतम के साथ बैठे हुए थे। मुझे यह बात बाद में अमृता जी ने ही बतायी थी कि जब उन्होंने राकेश जी से उस वक्त कान में यह पूछा था कि इन दिनों कॉफ़ी-हाऊसों में यह अफ़वाह फैली हुई है कि राकेश इन दिनों किसी अनीता नाम की लड़की से इश्क फरमा रहे हैं, क्या यह बात सच्ची है, तो राकेश जी ने पलट कर कहा था—"बिलकुल सच्ची है। और अगर तुम उस लड़की को देखना भी चाहती हो तो वो है जो उधर आरेंज रंग की साड़ी पहने हुए

है।" उस दिन मैंने पहली बार साड़ी पहनी थी और इसका सबूत यह था कि मुझे सम्भालनी भी नहीं आ रही थी। तभी अमृता जी ने कहा था, "ताईंयों तनू घूर-घूर के देख रई ऐ...।"

उस दिन गोष्ठी के बाद मैंने माँ को किसी से बातें करते देखा। मैंने उन्हें पहचाना नहीं क्योंकि वो मोहन राकेश नहीं थे। माँ ने परिचय कराया—"यह हैं कमलेश्वर जी।" मैं एक बार तो सकपका गयी लेकिन दूसरे ही क्षण मैंने संभल कर उन्हें नमस्कार किया। यह था राकेश जी पर 'हमदम' लिखने वाले अर्थात् राकेश को गाली देने वाले से मेरा पहला परिचय। शायद कमलेश्वर जी ने मुझे भी पहली बार तभी देखा था। मेरे मुँह से अचानक निकल गया —"आपके बारे में सुना तो बहुत था लेकिन मुलाक़ात आज ही हुई है।"

कमलेश्वर जी भी जवाब देने से नहीं चूके। बोले, "सुना तो मैंने भी तुम्हारे बारे में बहुत था, लेकिन मेरा भी परिचय आज ही हुआ है।" हम लोग ज़ोर से हँसे और मुझे याद है कि राकेश जी दूर खड़े किसी और से बात करते-करते कुढ़ते जा रहे थे—कुढ़ते जा रहे थे।

फिर पता चला था कि मन्नू-राजेन्द्र कलकता से आये हुए हैं। मैं मन्नू जी से मिलने को बहुत लालायित हो उठी। मैंने एक बाज़ी चली। राकेश जी को मैंने कह दिया था कि अगर मन्नू जी मुझे इस बात की सलाह दे दें कि बिना विवाह किये मैं आपके साथ रह सकती हूँ तो मैं मान जाऊँगी। फिर क्या था अगले दिन मन्नू जी को लिये राकेश जी सुबह पहुँच गये। मन्नू जी के कहने के अनुसार मुझे बाद में पता चला कि सारा समय राकेश जी मन्नू जी के पीछे पड़े रहे कि 'देखो मन्नू काम बन जाना चाहिए—देखो यह सब तुम पर निर्भर करता है।' और मन्नू जी के कहने के अनुसार ही जब उन्होंने मुझे पहली बार देखा तो दंग रह गये। "इतनी छोटी और भोली लड़की कहाँ तक आपको समझ सकेगी राकेश जी आख़िर इतना तो सोचिये।" उन्होंने घर लौट कर उनसे कहा था। बहरहाल उस हलवाई की दुकान में ऐसा कोई वातावरण नहीं था जहाँ पर बैठ कर मन्नू जी से कोई ढंग की बात-चीत की जा सकती थी। एक तो वो गन्दी इतनी थी, दूसरे उस दिन कुछ अतिरिक्त भीड़ भी थी। कोई और ढंग की जगह इतनी सुबह खुली भी नहीं हुई थी। कोई और तरीक़ा न सोच कर हम वहीं किसी एक गन्दी गली में चले गये। वहाँ पहुँच कर मन्नू जी ने मुझ से पूछा, "तुम राकेश जी को कितना जानती हो ?" यह पहली बार थी जब मैंने स्वयं इस प्रश्न का सामना किया था। मैंने जवाब दिया—"बिलकुल भी नहीं...सिवाय इसके कि हम चोरी-छिपे थोड़ी देर बात-चीत कर लेते हैं, इसके अलावा मैं उन्हें बिलकुल भी नहीं जानती।" अब मन्नू जी परेशान थीं। बोलीं, "मैं उन्हें एक नेक राय देती हूँ। तुम कुछ दिन मेरे पास कलकत्ता आकर रहो और राकेश जी को एक व्यक्ति के रूप में जानने की कोशिश करो —हालाँकि यह

एक बहुत मुश्किल बात है क्योंकि कोर्टशिप चाहे कितनी भी लम्बी हो एक कोर्टशिप ही होती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना 'बैस्ट' दिखाने की कोशिश करता है—और शादी तो शादी होती है। जो चीज़ कोर्टशिप के इतने सालों में भी पता नहीं चलती वो शादी के दूसरे और दूसरे क्यों पहले दिन ही पता चल जाती है। मेरे और राजेन्द्र में काफी देर तक कोर्टशिप चलती रही लेकिन जानना सिर्फ़ शादी के बाद ही सम्भव हुआ। इसलिए मैं किसी लम्बी कोर्टशिप के भी हक़ में नहीं हूँ लेकिन थोड़ा-बहुत जानना तो बहुत ज़रूरी है और तुम्हारी बातों से तो लगता है कि तुम उन्हें बिलकुल भी नहीं जानती। बहरहाल मुझ से अगर तुम राकेश जी के बारे में जानना चाहती हो मैं भी उतना ही बता सकूँगी जितना मुझे पता है—वह मेरे बहुत अच्छे मित्र हैं, और एक अच्छे मित्र के सभी गुण उनमें हैं।" आदि-आदि।

बहरहाल उस इतवार को राकेश जी मुझे पहली बार अपने घर ले गये। इतवार को हमारे ट्यूटोरियल होते थे जिन्हें मैंने उस दिन मिस किया था, जिससे टैक्सी में पूरे रास्ते मेरा दिल धड़कता रहा कि अगर माँ को पता चल गया तो...? इसके अतिरिक्त मैं बहुत कान्शस थी कि टैक्सी-ड्राइवर तो कहीं कुछ का कुछ सोच रहा। बहरहाल घर पहुँचे तो राकेश जी ने अपने कमरे का ताला खोला और मुझे अन्दर ले आये। अच्छा ठंडा कमरा था जिसमें एयर-कंडीशनर चल रहा था। नीचे उन्होंने अपने काम करने का आसन लगया हुआ था। उन्होंने जब अपने कमरे का दरवाज़ा अन्दर से बन्द किया तो मेरा दिल 'धक' से रह गया। अब क्या होगा ! बहरहाल हुआ कुछ नहीं था, सिर्फ़ हम लोगों ने चुपचाप शादी कर ली थी। फूलमालाएँ टेबल पर पड़ी हुई थीं और एक मिठाई का डिब्बा। उन चीज़ों से हम दोनों से जो बन पड़ा हमने कर लिया। घर के अन्य प्राणी पता नहीं, कहाँ ग़ायब हो गये थे। शायद सब को पता था कि आज मैं घर आ रही हूँ तो वो लोग दरवाज़े बन्द करके कहीं ग़ायब हो गये थे ताकि मुझे किसी क़िस्म की एम्ब्रेसमेंट न हो। उस दिन इतवार था लेकिन फिर भी कमलेश्वर जी नज़र नहीं आये। फिर हर दो मिनिट के बाद राकेश जी से कहती—"अब मुझे छोड़ आओ।" राकेश जी को भी पता नहीं उस वक्त क्या मज़ाक सूझा, बोले, "अब तो तुम यहाँ से नहीं जा सकतीं।" मुझे चक्कर आने लगे। अब तो मैं उनके गले पड़ गयी, "प्लीज़, मुझे छोड़ आओ, प्लीज़ मुझे छोड़ आओ...!"

"अच्छा एक शर्त पर कि जो मैं तुमसे कहता जाऊँगा, मानती जाओगी।"

"अच्छा तो फिर यही बात कहना कि चलो मैं तुम को घर छोड़ आऊँ।" मैंने अनुरोध किया।

"नहीं बस और सब कहूँगा—यही नहीं कहूँगा।"

इस बार मैं रो दी तो वो बदले। फिर मुझे सीने से लगा कर बोले, "बस, इतना ही विश्वास करती है मुझ पर, पगली !" फिर मेरा चेहरा हाथ में लेकर

बोले—"अच्छा, सच-सच बता तेरा इस घर से जाने को मन करता है ?"

इस बार मैं सिसकियों में फूट कर उनकी बाहों में खो गयी। यह रोना मेरी मजबूरी का था। मेरी बदनसीबी का था।

२२ जुलाई को हमने शादी कर ली है, यह बात अम्मा और कमलेश्वर जी तक ही सीमित थी। इसके बाद मैंने राकेश जी से वादा दिया था कि मैं हर इतवार को उनके साथ उनके घर पर आया करूँगी। लेकिन उसकी नौबत नहीं आयी।

अभी दो ही दिन गुज़रे थे कि कालेज से लौटने पर मुझे पता चला कि मेरे मामाजी ने माँ को मेरे लिए एक लड़का सुझाया है। उसे देखने के लिए उस दिन की शाम ही निश्चित की गयी थी। मुझे दोहरी परेशानी थी कि उधर राकेशजी मेरे फ़ोन का इन्तज़ार कर रहे होंगे और इधर मैं एक म्यूज़ियम-पीस बनी बैठी रहूँगी। "लड़का बहुत अच्छा है। जात है महाजन। काबुल में अमेरिकन एम्बैसी में काम करता है। एक हफ्ते की छुट्टी लेकर दिल्ली अपनी बहन की शादी अटेंड करने आया हुआ है---साथ ही अपनी 'भी' शादी करके इसी 'हफ़्ते' काबुल लौट भी जाना चाहता है। उसकी एक ही डिमांड है कि लड़की उसकी सोसाइटी में ठीक से उठ-बैठ सके। और प्रेज़ेन्टेबल हो बस...।" मामाजी ने जो बोलना शुरू किया तो तब तक बोलते ही गये जब तक महाजन आ ही नहीं गया।

लड़का क्योंकि मार्डन था इसलिए घर के लोगों ने ठीक समझा कि वह हमें बातचीत करने के लिए थोड़ा-सा एकान्त दे दें। बात मैंने ही शुरू की। मैं चाहती थी कि वह लड़का ही 'न' कह जाये तो बेहतर है, क्योंकि अपने घर वाले तो उस पर फिदा हो ही चुके थे। बातचीत कुछ इस तरह हुई।

"देखिये, मैंने अभी बी० ए० भी पास नहीं किया है।"

"कोई बात नहीं।"

"मुझे कहानियाँ लिखने का शौक है।"

"अच्छा शौक है।"

"मैं कभी-कभी लेखकों से मिलती भी हूँ।"

"कोई हर्ज नहीं।"

"बाद में आपको यह समस्याएँ तो नहीं लगेंगीं ?"

"बिल्कुल भी नहीं। तुम्हारे लिए ज़रूर मुश्किल हो जायेगी क्योंकि काबुल से तो तुम हर रोज़ लेखकों से मिलने आ नहीं सकोगी। यह इच्छा तो तुम तब ही पूरी कर सकोगी जब तुम हिन्दुस्तान आया करोगी। उसमें मुझे कोई एतराज़ नहीं।" आदि आदि। हुआ यह कि महाजन की माँ तकरीबन-तकरीबन बात पक्की ही कर के गयी थी। घर में सभी खुश थे। मुझे अपनी माँ के भाईयों भी कभी

पसन्द नहीं थे, इसलिए वो मुझ से ज़्यादा बात ही नहीं करते थे। वो जान गये थे कि इस वक्त उन्हें मुझसे दूर ही रहना चाहिए। उनमें से सिर्फ़ एक मामाजी ही मुझे पसन्द थे। उस वक्त वह ही मेरे पास आकर रोये भी—"तो फिर तू चली जायेगी।" मुझे उन्हें देख-सुन कर हँसी आ गयी थी। वह उस परिवार में सबसे ज़्यादा भोले और भले थे। उन्हें मेरे लिखने-पढ़ने में भी शौक था, क्योंकि वह स्वयं हज़ारों शेर लिख चुके थे और उनका रोना यही था कि दुनिया ने उन्हें एक शायर होने के नाते अभी भी पहचाना नहीं था। उन्हीं पर मैंने कहानी 'बे गज़ल' भी लिखी थी जो पित्ती जी ने 'कल्पना' पत्रिका में प्रकाशित की थी।

अगले दिन मैं राकेश जी को इस सब के बारे में बताने को बेचैन उनका इन्तज़ार कर रही थी कि देखा तो एक दम पसीने में भीगे हाथ में अखबारों का ढेर लिये आकर सामने बैठ गये। इससे पहले कि मैं उनसे कुछ पूछूँ मैंने देखा कि कमलेश्वर जी भी उनकी बग़ल में आकर बैठ चुके थे। दोनों कुछ अतिरिक्त परेशान लग रहे थे। लेकिन उसके बावजूद मैंने अपने मन की बात एक दम कह डाली, "राकेशजी, मुझे आपसे कुछ ज़रूरी बात करनी हैं।"

इससे पहले की मैं अपना वाक्य पूरा करूँ, उन्होंने मेरे आगे अखबारों को खोल कर रख दिया। पढ़ कर जैसे मेरे नीचे से ज़मीन खिसक गयी। राकेशजी तो इतने घबराये हुए थे कि कुछ बोल ही नहीं सके। बात सिर्फ़ कमलेश्वरजी ने ही की। मैंने पूछा, "यह कब हुआ ?" तो कमलेश्वर जी बोले, "जब यह तुमसे मिल कर कल घर जा रहा था—रास्ते में बर्फ़ लेने उतरा था कि यह घटना हो गयी।" 'मोहन राकेश पर छुरी चलाने की कोशिश', इतना ही पढ़ कर मेरे रोंगटे खड़े हो गये थे। फिर कमलेश्वर जी ने बताया कि उन्हें जल्दी जाना पड़ेगा क्योंकि बाहर पुलिस-एस्कोर्ट उनकी सुरक्षा के लिए खड़ी है। मैं पुलिस के नाम से इतना डर गयी कि मैंने मुड़ कर भी नहीं देखा कि वो कहाँ खड़ी है। फिर जल्दी से कमलेश्वर जी ने बात शुरू की—"राकेश का दिल्ली में रहना इस वक्त ख़तरे से खाली नहीं है...।"

"तो इन्हें दिल्ली से बाहर चले जाना चाहिए।" मैं घबराहट में बोली।

"लेकिन यह यहाँ से अकेला नहीं जायेगा। अगर गया तो तुम्हारे साथ ही जायेगा। ऐसा इसने निर्णय ले लिया है।"

"तो मैं क्या करूँ...मुझे बताइये।"

"आज शाम को लेखकों का एक प्रतिनिधि-मंडल गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री से मिलने जायेगा...कल राकेश को पुलिस चौकी में मुजरिम की शिनाख़्त के लिए बुलाया जायेगा...और परसों यानी इतवार को तुम दोनों यहाँ से जा सकते हो···बोलो तुम्हें मंजूर है...अगर नहीं तो राकेश यहीं रहेगा...फिर जो होगा देखा जायेगा···वो आदमी अब इसे छोड़ेगा नहीं। क्योंकि आज तक किसी

ने उसकी पुलिस-रिपोर्ट लिखवाने की भी हिम्मत नहीं थी...यह गिरोह करोल-बाग में पाँच पांडवों के नाम से ख्याति-प्राप्त है और इसका विरोध करना किसी के बूते की बात नहीं।" अब तक मेरी जान खुश्क हो गयी थी। मैंने 'हाँ' कहने में उतनी ही देर लगायी जितनी देर कमलेश्वर जी को बात पूरी करने में लगी।

"तो फिर मुझे कल दोपहर में फ़ोन कर लेना। मैं सारा प्रोग्राम तुम्हें बता दूँगा।" यह कहने के साथ ही जितनी घबराहट से वह दोनों आये थे उतनी ही घबराहट के साथ दोनों चले भी गये।

यहाँ यह बता दूँ कि राकेश जी की कहानी 'एक ठहरा हुआ चाकू' इसी परिस्थिति को लेकर लिखी गयी थी।

घर पहुँची तो माँ ने छूटते ही कहा--"तुम्हें पता कि राकेश पर किसी ने चाकू चलाने की कोशिश की है।" मेरे मुँह से बरबस 'हाँ' निकल' गया, तो माँ एक दम चौकन्नी हो गयीं —"तुझे कैसे पता है ?" मैंने थोड़ा होश से काम लिया। "कॉलेज में यह खबर हरेक के मुँह पर थी।" कह कर मैं अन्दर कपड़े बदलने चली गयी। बाहर आयी तो माँ बोली, "वो लोग ठाका-सगन-शादी सब एक ही साथ करना चाहते हैं...तुमने बताया नहीं तुम्हें लड़का कैसा लगा ?"

"जब घर में सभी को इतना पसन्द आया है तो फिर मुझ से पूछने की ज़रूरत कैसे पड़ गयी ?"

"फिर भी...तुम्हें भी कुछ तो कहने का हक है ही।"

"किस लिए...कब की शादी तय हुई...इतना ज़रूर पूछना चाहूँगी।"

"मंगल या फिर बुध को।"

"ठीक है...मुझे मंजूर है।" कह कर मैं अन्दर चली गयी।

अगले दिन कमलेश्वर जी को फ़ोन किया तो पता चला कि इतवार को सुबह की सबसे पहली फ़्लाइट से बम्बई की सीटें रिज़र्व हो चुकी हैं। मुझे रोज़ के निश्चित समय पर राकेश जी निश्चित जगह पर मिलेंगे। मुझे अपने साथ सिर्फ़ अपने सर्टिफिकेटस ही लाने हैं और कुछ नहीं। पलायन का दिन २९ जुलाई,६३ था।

उस रात नींद नहीं आयी। अगला दिन हम लोगों के लिए और क्या-क्या लिये हुए है—बस इसी सोच में रात निकल गयी। बाद में पता चला कि उस रात राकेश जी भी ओंप्रकाश जी के यहाँ सोये थे —सोये क्या थे बस मेरी जैसी ही स्थिति में थे। राकेश जी के कहने के अनुसार श्री ओंप्रकाश जी ने इतवार को 'पैट्रियट' में यह विज्ञापन दिया था कि एक लेखक को एक सेक्रेटरी की आवश्यकता है।

सारी रात आकाश पर बादल छाये रहे। हम दोनों को यह डर था कि कही सुबह बारिश न हो जाये जिससे घर से निकलना ही असम्भव हो जाये।

सुबह जब कॉलेज के लिए तैयार हुई तो हल्की-हल्की बूँदा-बाँदी हो रही थी।

माँ ने टोका भी, "अब और कॉलेज जाने की क्या आवश्यकता है—खास तौर से जबकि बरसने के आसार इतने हैं"—मन हुआ कि माँ को जवाब दूँ कि 'भीगूँगी नहीं तो वंचित रह जाऊँगी।' लेकिन मन की बात मन में ही रख कर बोली, "और कॉलेज नहीं जा पाऊँगी, इसी से तो आज एक बार और हो आने दो।" कहते के साथ ही उस घर से मैं हमेशा के लिए निकल गयी।

रोज़ की जगह पर राकेश जी मेरा इन्तज़ार पहले से ही कर रहे थे। मुझे देखते ही खुशी से बोले, "और कमलेश्वर सोच रहा था कि तुम शायद घबरा जाओगी—शायद नहीं आओगी।"

"लेकिन आना तो मुझे था ही—आज मेरे ट्यूटोरियल जो हैं।" कहते के साथ ही मैंने अपना हाथ राकेश जी के हाथ में सौंप दिया।

राकेश जी ने टैक्सी रोकी हुई थी। हम लोग जाकर सीधे उसमें बैठ गये।

वहाँ से हम सीधा गोल मार्केट गये। वहाँ राकेश जी के एक अभिन्न मित्र को आना था जिसका नाम 'मदन गुप्ता' था। वहाँ से एयरपोर्ट तक उन्हीं ने हमको पहुँचाना था। मुझे तो वह सुबह अच्छी तरह याद है। बादलों से घिरा आकाश और हल्की-हल्की बूँदा-बादी। हम दोनों 'मदन गुप्ता' की प्रतीक्षा में हाथ में हाथ दिये टहल रहे थे—अपने एक आने वाले कल की प्रतीक्षा में...एक ऐसा कल जिसमें असीम सुख, असीम शान्ति और असीम प्यार होगा...बस।

मदन की गाड़ी आ गयी थी। हम दोनों उसमें सवार हुए तो राकेश जी इतना ही बोले, "मदन, यह अनीता है।" हम दोनों में सिर्फ़ 'हेलो' के सिवाय और कोई कोई बातें नहीं हुई।

एयरपोर्ट आते-आते बारिश बहुत तेज़ हो गयी थी। वहाँ पहुँच कर पता चला कि फ़्लाइट मौसम साफ़ न होने की बजह से दो घंटे लेट है। राकेश जी का दिल बैठ गया, क्योंकि यही डर उन्हें रात-भर सताता रहा था। बहरहाल वो दो घंटे हम दोनों ने एक-दूसरे से दूर खड़े होकर काटे, क्योंकि डर था कि अगर पकड़े भी गये तो एक साथ न पाये जायें।

थोड़ी ही देर में कमलेश्वर जी राकेश जी का एक बक्सा और एक टाइप-राइटर लेकर भीगते-भीगते पहुँचे। मुझे वहाँ देख कर जितना आश्चर्य उन्हें हुआ उससे कहीं ज़्यादा प्रसन्नता हुई थी। किसी ने किसी से कोई बात नहीं की। हम चारों एक दूसरे से काफी दूर-दूर खड़े हुए थे। दो घंटे में मौसम काफी सुधर गया था हालाँकि आकाश में बादल उसी तरह से घिरे हुए थे। मेरी सलवार-क़मीज़ अच्छी तरह भीग चुकी थी। लग रहा था कि उसी तरह और खड़ी रही तो जुड़ा जाऊँगी। अन्ततः फ़्लाइट की घोषणा हो गयी। हम लोग कोच की तरफ बढ़े। पहले राकेश जी बढ़े, उनके पीछे-पीछे मैं। चढ़ने से पहले मैंने एक बार पीछे मुड़ कर देखा। कमलेश्वर जी पीछे खड़े हुए थे, बोले, "अब पीछे नहीं, सिर्फ़ आगे ही आगे जाना

है।" कह कर उन्होंने मेरा हाथ पकड़ कर ऊपर चढ़ने में मेरी सहायता की।

दोपहर तक हम लोग सान्ताक्रूज़ एयर-पोर्ट छू चुके थे। बम्बई मेरे लिए सर्वथा नयी जगह थी। आस-पास का नयापन भी इस विश्वास को और दृढ़ कर रहा था कि हम एक नयी ज़िंदगी शुरू करने वाले हैं—या कि कर चुके हैं।

एयर-पोर्ट से हम सीधे होटल सन-एन-सैंड, जूहू पहुँचे। होटल के काउंटर पर जब राकेश जी कमरा बुक करवा रहे थे तो मुझे बहुत अजीब-अजीब-सा लग रहा था। मिस्टर मोहन राकेश और मिस अनीता औलक के नाम से कमरा बुक किया गया। बुकिंग पर खड़े व्यक्ति ने सरसरी नज़र मुझ पर डाली तो मुझमें एक सिहरन-सी दौड़ गयी। मेरे कपड़े भी इस वक्त तक काफी झुलस चुके थे। मैंने मन ही मन तय किया कि कमरे में जाते ही राकेश जी से कहूँगी कि सबसे पहले कपड़ों का इन्तज़ाम कराना पड़ेगा।

कमरे में पहुँच कर जब मैंने खिड़की से परदा हटा कर बाहर देखा तो पानी बहुत ज़ोरों से बरस रहा था। राकेश जी ने पास आकर परदा खींच कर कहा, "यहाँ परदा खोलने के जुर्म में कैद कर लिया जाता है।"

जब शाम हो गयी तो चाय के दौरान राकेश जी ने टेलीफ़ोन पर एक नम्बर घुमाया। फिर बोले, "भाभी, मैं बम्बई से बोल रहा हूँ...अनीता को ले आया हूँ...जब आप आयें तो उसके लिए कुछ कपड़े लेती आयें...उसका कमरे से बाहर निकलना दूभर हो रहा है, नहीं तो हम ही चले आते...।" राकेश जी ने पता नहीं यह सब कैसे कह डाला और वो भी इतना मज़ा लेते-लेते। उन्होंने जब चोंगा नीचे रखा तो मैंने पूछा, "आप हैं तो शरीफ आदमी न ?"

"अब पूछने से क्या मिलेगा तुम्हें...?" राकेश जी अब मूड में थे। उन्होंने अपना सिर पीछे फेर कर ठहाका लगाया।

रात को भाई-भाभी (श्री और श्रीमती राज बेदी) आये। उनके आने से पहले ही राकेश जी ने मुझे उनके बारे में थोड़ा-बहुत बता दिया था। वहाँ कमरे में हम सब ने एक साथ पहली बार खाना खाया। उसी दौरान राकेश जी ने सारी स्थिति भाई-भाभी के आगे रख दी, "यह तीन अगस्त को बालिग़ हो जायेगी। अगर कहीं कोई खतरा है तो सिर्फ़ इन्हीं तीन-चार दिन का है...फिर कोई परेशानी नहीं रहेगी...तब तक मैं चाहता हूँ किसी को भी सूचित न किया जाये।"

"मैं तुमसे सहमत हूँ लेकिन तुम क्यों चिन्ता करते हो, दोस्त...!...कोर्ट चलो न.. कुछ नहीं होने वाला है।" भाई के बात करने का एक अपना ही अन्दाज़ था, यह कोई भी पहली मुलाक़ात में ही जान सकता था।

"तो ठीक है, कल सुबह हम लोग वहाँ पहुँच जायेंगे।" राकेश जी बोले।

"मैं तुम लोगों को लेने आ जाऊँगा...काहे को किसी भी बात का रिस्क लिया जाये।"

जब वह लोग चलने लगे तो मैंने राकेश जी को कपड़ों के लिए इशारा किया। "अरे हाँ, भाभी आप कपड़े नहीं लायीं ?"

"कैसे लाती...मुझे साइज़ ही नहीं पता था। अब खुद देख गयी हूँ—कल इनके साथ भेज दूँगी।" उस सारी रात राकेश जी एक ही बात बोलते रहे—"मुझे 'घर' चाहिए...अन्ना 'घर' मुझे ज़िंदगी में और सब कुछ मिला...सिर्फ़ एक 'घर' ही नहीं मिला। मैं कहाँ-कहाँ इसके लिए नहीं भटका...क्या-क्या इसके लिए नहीं किया...लेकिन पता नहीं क्यों 'घर' नाम की चीज़ मुझसे हमेशा रुसवा रही। दो बार मैंने इसे पाने का विश्वास अपने में भरा और दोनों ही बार मुझे खुद ही उससे भाग जाना पड़ा। मैं नहीं जानता कि क्या मुझे ही 'घर' से एलर्जी है या कि घर को ही मुझसे एलर्जी है। क्या तुम मेरे लिए एक ऐसा घर बना सकोगी जो मेरे सिर्फ़ मेरे अनुकूल ही हो ? ...मैं एक बहुत ही दुःखी आदमी हूँ, अन्ना...एक बहुत ही थका हुआ आदमी हूँ। मैं चाहता हूँ कि मुझे अब तुम सँभाल लो...मुझे और मेरे घर को...।"

राकेश जी की बात सुन कर कहीं यह विश्वास मेरे मन में बैठ रहा था कि सब कुछ बिलकुल वैसे ही हो सकेगा जैसा वो चाह रहे हैं...एक ऐसा ही घर हम लोग बना सकेंगे...जैसा कि हम लोग सोच रहे हैं...लेकिन फिर भी पता नहीं क्यों मुझे यह एक बहुत बड़ा चैलेंज लग रहा था अपने में...एक बहुत बड़ा चैलेंज !

सुबह आँख तभी खुली जब भाई आ चुके थे। भाभी ने साड़ी-ब्लाऊज़ भिजवा दिये थे। तैयार होकर हमने जल्दी से चाय पी और नीचे उतर गये। जूहू से चर्चगेट तक आते-आते बम्बई शहर से काफी परिचय हो गया था, यद्यपि उस समय दिमाग़ ने पूरी तरह से आँखों का साथ नहीं भी दिया। पूरे रास्ते भाई गाड़ी चलाते हुए गज़ल गाते रहे—"बस, के दुश्वार है हर काम का आसाँ होना—आदमी को भी मयस्सर नहीं...इन्साँ होना...।"

घर आ गया था लेकिन बारिश अभी भी बन्द नहीं हुई थी। हम लोग भीगते-भीगते गाड़ी से गेट तक पहुँचे। ऊपर आये तो भाभी रसोई में खाने की तैयारी में लगी हुई थीं। वह रसोई से बाहर आयीं तो मैंने उनके पैर छुए और उन्होंने मुझे गले लगा लिया। फिर अन्दर ले जाकर उन्होंने मेरे गले में मंगलसूत्र और हाथों में चूड़ियाँ पहना दीं। माथे पर बिन्दी लगा कर उन्होंने मेरी माँग भर दी। मुझे उस दिन पहली बार एहसास हुआ कि इन चीज़ों में, इन संस्कारों में कहीं बहुत बल है, बहुत शक्ति है। कुछ ही समय में मैंने अपने आप में शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन पाया।

राकेश जी बम्बई आये हुए हैं, यह बात छुपी नहीं रह सकती थी। क्राफर्ड मार्केट में शापिंग करते हुए भारती जी और पुष्पा जी ने हमें पकड़ लिया। बस फिर क्या था गिरधारीलाल वैद और उर्मिला भाभी तक भी बात पहुँच गयी। सभी मिलने भी आये। फिर यह तय पाया कि वासु भट्टाचार्य और रिंकी को बान्द्रा तार देकर बुला लेना चाहिए क्योंकि तब उनके पास कोई फ़ोन नहीं था। अपने दोस्तों के बीच मैंने राकेश जी को इतना मस्त पाया कि आस-पास और भी कोई है इस बात का उन्हें एहसास भी नहीं रहता था।

बान्द्रा से चर्चगेट आना वासु-रिंकी के लिए दिल्ली-बम्बई जाना होता था। वह जब भी चर्चगेट आते एक हफ्ते-भर के कपड़े साथ बाँध लाते। सिर्फ़ इतना ही नहीं, जिस जगह बैठ जाते फिर वहीं के हो जाते। उन दिनों जो कमरा भाभी ने हमें दिया हुआ था उसी में महफ़िल लगती और तब तक लगी रहती जब तक मैं दूसरे कमरे में हार कर सो न जाती।

लेकिन मैं भी इतनी आसानी से दूसरे कमरे में नहीं सो जाती थी। हालाँकि माँ के घर में तो ८-९ बजे से ज़्यादा जागने की आदत ही नहीं थी, लेकिन यहाँ आकर लगता था कि १०-११ बजे तो सिर्फ़ लोग महफिल लगानी शुरू ही करते हैं। मैं रोज़ इसी उम्मीद में बैठी जागती रहती कि हो सकता है कि आज महफ़िल न लगे और...लेकिन उसकी नौबत नहीं ही आती। पहले जैसे राकेश जी से कुछ क्षण भी सिर्फ़ अपनी ही मर्ज़ी से काटने तक को न मिलते। यह नहीं कि राकेश जी नहीं मिलना चाहते थे लेकिन दोस्तों और लोगों के बीच उन्होंने अपनी एक ऐसी इमेज बना ली थी कि जिसे अब उन्हें निभाना ही था। वह चाह कर भी अपने दोस्तों से अलग इस वजह से तो नहीं ही हो सकते थे कि उन्हें कुछ समय अपनी बीवी को भी देना है। यह उनकी इज़्ज़त का सवाल था।

यह नहीं कि राकेश जी मेरे कष्ट को महसूस नहीं करते थे—कष्ट तो वह अपने अन्दर भी लिये हुए थे। इसलिए और कुछ न करके हम मधुर-मधुर बातें और तीखी-तीखी गालियाँ एक-दूसरे को परचे पर लिख कर बहाने से पकड़ा दिया करते थे। हमारा एक-दूसरे के साथ कम्यूनिकेशन बस इतना-भर रह गया था।

३१ जुलाई को हम सब राकेश जी के छोटे भाई से मिलने गये। उसे साथ लेकर हम लोगों ने रात बाहर खाना खाया। राकेश जी ने हम दोनों का परिचय भी करवाया था, "यह है वीरेन, मेरा छोटा भाई और यह है अनीता, तुम्हारी 'भाभी'।" उसने मुझे हाथ जोड़ कर नमस्कार किया। लेकिन 'भाभी' नाम से तो घबरा गया था। इसको मैंने तत्काल ही भाँप लिया। मेरा अनुमान ठीक ही निकला था क्योंकि राकेश जी इस बात से सहमत थे कि वह 'भाभी' नाम से अब बहुत एलर्जिक हो गया है।

स्वीट-डिश खाते-खाते जब रात के बारह बज गये तो टेबल पर बैठे सभी

लोगों ने वीरेन को हैपी बर्थ-डे विश किया। पहली अगस्त को उसकी सालगिरह थी।

हम लोग उसे ३ अगस्त, को मेरी सालगिरह का निमन्त्रण देकर विदा हुए। सालगिरह के दिन राकेश जी ने अपने कई मित्रों को सिर्फ़ इसलिए भी बुलाया था कि-वह चाहते थे कि मैं सभी से मिल लूँ...अर्थात् वह अपने नये जीवन के बारे में सबको सूचित करना चाहते थे। अन्य दोस्तों के अलावा उस दिनश्री कृश्न-चन्दर, सलमा सिद्दीकी, ऐनी, श्री मनहर, राजेन्द्र अवस्थी, नन्दन और अब्बास साहब भी आये थे। इस सालगिरह का दूसरा महत्व यह था कि अब मैं बालिग़ हो चुकी थी। इक्कीस की हो गयी थी।

यहाँ एक बात याद आयी। सालगिरह के दिन की बात है। यह तो सभी जानते थे कि राकेश कितना फक्कड़ आदमी है। इसी से कृश्नचन्दर जी राकेश जी को ५०० रु० यह कह कर दे गये थे कि 'भाई मैंने एक बार तेरे से उधार लिया था जब तू 'सारिका' में था। तब का यह कर्ज़ा मुझ पर चढ़ा हुआ था जो आज मैंने उतारा है।' जहाँ राकेश जी यह जानते थे कि कृश्नचन्दर झूठ बोल रहे हैं वहाँ कृश्नचन्दर यह भी जानते थे कि राकेश का ईगो वो किसी क़ीमत पर नहीं तोड़ सकते थे। फिर मन्नू ज़ी ने भी ३०० रु० का चेक भेजा था। लिख कर 'बहुत छोटी रक़म है। मिलते ही भूल जाना।'

फिर एक-दो दिन बाद कमलेश्वर जी भी बम्बई पहुँच गये—जैसा कि उन्होंने वादा किया था। वह सिर्फ़ यही देखने आये थे कि सब कुछ कैसा चल रहा है। उन्होंने पहुँच कर बहुत मज़ेदार किस्से सुनाये। उन्होंने बताया कि जिस दिन मैं घर नहीं पहुँची उस दिन माँ कमलेश्वर जी के दफ्तर पहुँच गयी थी। उन्हें धमकी देने लगीं कि वह उन्हें गिरफ्तार करवाने के लिए पुलिस लेकर आयी हुई हैं। तब कमलेश्वर चाय पी रहे थे, बोले, "तो पुलिस को बाहर क्यों खड़ा किया हुआ है? अन्दर ले आइये न—आखिर चाय का वक्त भी तो हो गया है।" जब वह बहुत गिड़गिड़ायी कि वह बता दे कि मैं कहाँ हूँ तो वह बोले, "आप घबराये नहीं, वो दोनों भी बड़े आराम से बम्बई के किसी न किसी होटल में चाय-वाय पी रहे होंगे।" यह कहते के साथ ही उन्होंने माँ के आगे चाय की प्याली रख दी।

एक और मज़ेदार सूचना श्री कमलेश्वर जी ने आकर दी वह यह कि पुलिस ने माँ का केस दर्ज करने से सरासर इनकार कर दिया था यह कह कर कि अठारह साल की उम्र में व्यक्ति बालिग़ हो जाता है।

जहाँ माँ को इस बात का शॉक लगा होगा, वहाँ हम लोगों को भी कम नहीं लगा था। बहरहाल कमलेश्वर जी हमें यह सलाह ज़रूर दे गये कि अभी काफी देर तक दिल्ली जाकर रहना हम लोगों के हित में नहीं होगा। इसीलिए हम लोग

बम्बई में ही रहने के लिए मजबूर हो गये थे। कमलेश्वर कुछ दिनों बाद दिल्ली लौट गये।

ज़िन्दगी में पहले नम्बर पर मेरे लिए मेरा लेखन है, दूसरे नम्बर पर मेरे दोस्त और तीसरे नम्बर पर तुम—लेकिन तीनों ही मेरे लिए आवश्यक हैं—यह एक ध्रुव सत्य था।

हम जितनी देर बम्बई में रहे राकेश जी किसी न किसी मित्र से घिरे ही रहे और जब कभी अकेले हुए तो इंट्रोवर्ट जैसे रहते। इतना कि हम दोनों एक दूसरे को सिर्फ़ उतना ही जान पाये जितना ज़िन्दगी शुरू करने से पहले जानते थे—और जानना जैसा कि मन्नूजी ने मुझसे कहा था कोई जानना नहीं था।

और वो 'घर' जिसके बारे में राकेश जी ने बात की थी मुझे दूर-दूर तक नज़र नहीं आ रहा था। मुझे लगा कि जितना बड़ा चैलेंज मैंने उसे महसूस किया था वह आज कहीं उससे ज़्यादा बड़ा था।

कैसे और कब उनसे कोई बात पूछूँ या करूँ, यही अपने में एक बहुत बड़ी समस्या हो गयी थी। इसलिए जितना थोड़ा समय भी मिलता उसमें हम सिर्फ़ एक-दूसरे से उलझ कर ही रह जाते। फिर एक-दूसरे को सिर्फ़ मनाने-समझाने की जद्दोजहद—अभी पहली मिसअंडरस्टैंडिंग ही नहीं सुलझती कि दूसरी में उलझ जाते। जब भी कभी अलग होते तो सिर्फ़ एक दूसरे से शिकायतें करते-करते ही अपने को फ़ना कर देते। नतीजा—हमें कभी यह मौक़ा नहीं मिला कि हम एक-दूसरे के अच्छे पहलू को भी देखें, समझें। हमें सिर्फ़ इतनी ही फ़ुरसत मिलती कि एक-दूसरे को यह बता सकें कि हम दोनों में किस-किस चीज़ की कमी है।

सिर्फ़ इतना ही नहीं, हम उन दिनों जिन परिवारों से सम्बद्ध थे वह लोग मुझे देख कर पहले ही दिन घबरा गये थे कि मैं उस दुर्द्धर्ष आदमी के साथ कैसे पूरी उतरूँगी। नतीजा कि मेरे एक-एक व्यवहार, एक-एक बात को लेकर चीमी-गोइयाँ होने लगी। मेरी कोई भी की गयी बात को मैगनिफ़ाईंग ग्लास से देखा जाता। नतीजा—मैं कोई व्यक्ति न होकर केवल एक केन्द्र बन कर रह गयी थी।

मुझे सिर्फ़ आस-पास के लोगों से ही पता चलता था कि राकेश क्या है, क्या नहीं है। उसे क्या पसन्द है, क्या नहीं है—यहाँ तक कि यह बात भी मुझे मित्रों से ही पता चली कि वह एक बहुत बड़े लेखक हैं। यह बात तो एक तरफ़ की थी—मुझे तो राकेश जी के मित्रों से उनके बारे में सब कुछ पता चलता रहा लेकिन मेरे बारे में राकेश जी तक कुछ भी पहुँचाने वाला कोई नहीं था। मुझे वहाँ कोई भी नहीं जानता था कि मैं क्या हूँ—और शायद इस बात की ज़रूरत भी किसी ने महसूस नहीं की। यह बात 'टेकिन फ़ॉर ग्रान्टिड' ही थी कि अगर मैं राकेश जी के जीवन

में आयी हूँ तो 'सब कुछ' सोच समझ कर ही आयी होऊँगी—और वह 'सब कुछ' क्या था, इसी पर शोध करने-करने में मैं अपने आपको भूल गयी और यहीं पर शोध समाप्त हो गया था—मैं राकेश जी को समझ गयी थी। लेकिन यह बहुत बाद की बात है। अभी तक तो यही सच था, 'बस के दुश्वार है...।'

दीवाली से कुछ दिन पहले हम दोनों बम्बई के पास माथेरान हिलस्टेशन चले गये। वहाँ राकेश जी ने एक बहुत बड़ा कॉटेज बुक करवाया था। दो दिन बाद उज्ज्वल भाभी (मिसेज़ बेदी) हमें खाने-पीने की ढेर सारी चीज़ें दे गयीं थीं—दीवाली पास ही थी। फिर दीवाली के दिन भाई (मिस्टर बेदी) अपना कैमरा लेकर पहुँचे। हम तीनों ने एक बहुत ही प्यारी दीवाली शहर से दूर उन घाटियों में मनाई थी। वो दीवाली मुझे ज़िन्दगी भर नहीं भूल सकती। मैं अन्दर कमरे में रंगोली बना रही थी। भाई ने अँधेरे में दीयों की रोशनी में मेरी सालों तक याद रखने वाली दीवाली को कैमरे से कैद किया था। बाहर राकेश जी दीये जलाते-जलाते दुःखी हो गये थे। वो मुझे अन्दर से बाहर खींच लाये। भाई के कैमरे ने वहाँ भी मेरा पीछा किया। उस अँधेरे में प्रकाश देती मेरी परछाइयाँ निश्चित ही ठीक उतरी थीं।

फिर दीवाली के बाद सभी मित्र निमंत्रित किये गये। वासु-रिंकी और उनकी मौसी—श्री और श्रीमती वैद, श्री और श्रीमती कपूर, भाई-भाभी और बच्चे। एक मेला-सा लग गया था। कैसे दिन निकल गये, पता ही नहीं चला। कितना हा-हुल्लड़ हुआ, तोबा-तोबा!

धीरे-धीरे सब लोग चले गये...रह गये पीछे सिर्फ़ बाशू-रिंकी। जब वह लोग भी जाने लगे तो राकेश जी ने तय किया कि हम लोग भी क्यों न कुछ दिनों के लिए बम्बई हो आयें। प्रोग्राम बन गया था—हम लोग सब एक साथ रवाना हुए। उस दिन का डकन-क्वीन का सफ़र कभी नहीं भूल सकती। मैं और रिंकी उस पूरे सफ़र में अपने कम्पार्टमेंट में ही बैठे बातें करते रहे। फिर अचानक रिंकी बोली, "अरे, वो दोनों कहाँ है?" फिर वह कम्पार्टमेंट से निकल कर उन्हें ढूँढने गयी। आयी तो बोली, "वो दोनों उसी लड़की को घेरे डाइनिंग कार में बैठे हैं। आज मैं समझ लूँगी बाशू को भी।" 'उसी लड़की' से तात्पर्य उस एक लड़की से था जिसे स्टेशन पर सी-ऑफ़ करने पूरा माथेरान आया हुआ था। फिर जब गाड़ी रवाना हुई तो उस लड़की को सी-ऑफ़ करने में जो शोर उस स्टेशन पर मचा था उसमें इंजन की आवाज़ भी डूब गयी थी।

रिंकी और बाशू दादर, स्टेशन पर उतर गये और हम लोग बम्बई सेन्ट्रल पर। स्टेशन पर राकेश जी ने उस लड़की से जब मेरा परिचय कराया तो मैंने उसे 'विश' नहीं किया। फिर क्या था—घर जाकर जो हुआ उसे सिर्फ़ कल्पना पर ही छोड़ देना चाहिए। राकेश जी ने अपने सब मित्र इकट्ठे कर लिये थे और मुझे

बीच में बैठा कर उन्होंने मुझे क्या कुछ नहीं कहा—क्या कुछ नहीं सुनाया ! राकेश जी मुझे उजवल भाभी के पास छोड़ कर अकेले ही माथेरान चले गये थे, यह कह कर कि मैं इसी तरह बनी रही तो उन्हें मेरे से कोई लेना-देना नहीं है। भाभी के पास रहना है और वही सब कुछ करना है जो वो कहती हैं। हमारी नयी जिन्दगी का अंत यहाँ हो सकता था—लेकिन नहीं हुआ, क्योंकि जिस 'घर' की ज़रूरत की बात राकेश जी ने मुझसे की थी —उसी 'घर' की ज़रूरत कहीं मुझे भी थी।

राकेश जी से रिश्ता जोड़े मुझे छः महीने हो गये थे —लेकिन उन छः महीने में हम दोनों एक-दूसरे के लिए और भी बेगाने हो गये। यह अलग बात है कि जिस रूप को हमने एक-दूसरे में पाया उसकी हम दोनों में से किसी को भी ज़रूरत नहीं थी। घर से चले थे हम तो खुशी की तलाश में...लेकिन...कैसी नियति थी ! कैसी विडम्बना थी !

राकेश जी जब माथेरान से लौटे तो काफी बदले बदले-से थे—यों एक तरह से और भी बेगाने—उनसे मैं कोई बात भी कर सकती हूँ ऐसा मुझे नहीं लगता था। एक दिन वह मुझे बाहर एक होटल में ले गये। वहाँ बैठ कर उन्होंने मुझसे बहुत आत्मीयता से बात करने की कोशिश की। लेकिन हम लोगों के बीच अब तक इतनी खाई पैदा हो गयी थी कि बात नहीं बनी। उन्होंने जितने विश्वास के साथ बात करनी शुरू की उतने ही अविश्वास के साथ समाप्त भी हो गयी। उस दिन उनसे बात नहीं हो सकी और हम यों के यों ही वापस घर लौट आये। हाँ, इतना ज़रूर उन्होंने मुझसे कह दिया था कि हम लोग ज़ल्दी ही फ्लैट अलग ले लेंगे, जो हमने भाभी के घर से चार बिल्डिग छोड़ कर ले भी लिया था।

इस सबमें मैं आपको यह बताना भूल गयी कि करवाचौथ पर अम्मा ने इलाहाबाद से मुझे लाल साड़ी, सिंदूर और शगन भेजा था। उसे पाने पर जो सुख मुझे तब मिला था वो आज भी नहीं भूलता। इसी से जनवरी में जब राकेशजी दिल्ली श्री ओंप्रकाश जी की लड़की विनीता की शादी अटेंड करने गये थे तो प्रोग्राम यह तय हुआ कि मैं इस बीच इलाहाबाद जाकर अम्मा से मिल आऊँ। उसके बाद राकेश जी मुझे इलाहाबाद से लेते हुए वापस बम्बई आ जायेंगे।

अम्मा से मिल कर बड़ा सुख मिला था। वहाँ उनके पास कुछ दिन रहने से फिर से यह विश्वास मन में पैदा होने लगा था कि मैं भी किसी की बीवी हूँ, किसी की बहू हूँ। राकेश जी आये तो मुझसे रहा नहीं गया, "ऐसा ही मैं एक घर चाहती हूँ...जहाँ हम तीनों हों—बस !" रात हुई तो अँधेरे में राकेश जी टटोलते-टटोलते मेरी चारपाई तक आ गये। मेरे सीने में सिर छुपा कर वो चुपचाप उसे भिगोते रहे। एक बार फिर मन में विश्वास जागा था...आने वाले कल में।

हम दोनों को ही यह विश्वास हो गया था कि अम्मा के साथ रहने में हम

दोनों को ही बल मिलेगा शक्ति मिलेगी—एक मजबूत धरातल—एक 'घर' बनाने के लिए। राकेश जी ने यह बात स्वीकार कर ली थी। दोनों का ही मन नहीं कर रहा था अम्मा को छोड़ कर जाने का। कितना-कितना अच्छा लगता था माँ का अँगीठी जलाना, उस पर उबलती दाल...फूलते फुलके। फिर अम्माँ के दोनों तरफ़ बैठ कर ताज़ा-ताज़ा फुलका खाना, फिर करारे-करारे फुलकों के लिए लड़ना—और अम्मा का न्याय में विश्वास करना...सभी कुछ तो कितना अच्छा-अच्छा था। अम्मा इतनी निश्छल और निर्मल थीं...कि देखते ही बनता था! लगता था कि कोई कितना भी असम्भव या दुर्लभ क्यों न हो वहाँ आकर बदल सकता है। वो सिर्फ़ प्रेरित ही नहीं करती थीं बल्कि शक्ति भी देती थीं...हर उसको जिसे उसकी ज़रूरत होती। और हम! हम तो थे ही भिखमँगे...दर-दर भटकने वाले...!

अम्मा से हम वादा करके आये थे कि हम उन्हें जल्दी ही अपने पास बुला लेंगे—अपने घर में। बम्बई पहुँचे तो राकेश जी का वहाँ मन नहीं लगा। उन्होंने बहुत सोचा—बहुत सोचा, फिर मुझसे बोले, "चल, दिल्ली चलें।"

दिल्ली में वही पहले वाला घर था, जहाँ पर कभी राकेश जी ने मुझसे पूछा था कि क्या मैं उस घर से कभी जाना चाहूँगी। उस को देखते ही कितना कुछ आँखों के आगे घूम गया। सब कुछ याद करके एक बार आँखें फिर भर आयीं—अपनी एक और ही प्रकार की असमर्थता लिये। इस बार हम सब थे। अम्माँ भी तार मिलते ही ठीक उसी दिन पहुँच गयी थीं।

बीच की मंज़िल पर अब कमलेश्वर जी और गायत्री भाभी रहते थे और ऊपर बरसाती में हम तीनों ने एक छोटा-सा घोंसला बनाया था। राकेश जी को अभी तक मैं सिर्फ़ इतना ही समझ पायी थी कि वो सुबह देर तक सोते हैं, इसलिए आस-पास कोई चिड़िया भी नहीं फड़कनी चाहिए। इस एक बात को समझने के बाद मुझसे और बहुत प्रकार की ग़लतियाँ होती रहती थीं...जिन्हें मैं बराबर कठंस्थ करती रहती थी कि फिर कभी न हों। हर रोज़ मुझे लगता था कि आज मैंने राकेश जी को समझ लिया है और अब कोई परेशानी नहीं रही, लेकिन हर अगले दिन लगता था कि बस यही एक बात और समझने को रह गयी थी—बस अब सब ठीक होगा।

दिल्ली पहुँच कर मुझे याद आया कि अगर मैं अपने बी० ए० की परीक्षा इस जुलाई में नहीं दूँगी तो फिर कभी पंजाब यूनिवर्सिटी से प्राईवेट एपीयर नहीं हो सकूँगी...क्योंकि प्राइवेट कैन्डिडेट के लिए वह अन्तिम वर्ष था। मैंने जब राकेश जी से यह बात की तो वो मान गये। उस दिन जाकर मैं किताबें भी खरीद लायी। जब कुछ समय ऐसे ही निकल गया और फार्म्स भी चले गये तो राकेश जी को लगने लगा कि वहाँ रहते मेरी पढ़ाई ठीक से नहीं हो पा रही। आधे से अधिक

समय तो मैं उनके इस या उस काम में ही लगी रहती, फिर खाना बनाती और शाम को उनके मित्रों को अटैंड करने में निकाल देती। उन्होंने मुझे सलाह दी कि मैं पढ़ाई के लिए बम्बई चली जाऊँ। वहाँ मुझे काफी समय मिल जायेगा। लेकिन जैसे ही मैंने उनकी बात मान ली मैंने देखा कि उनका चेहरा उतर गया था। कहने के बाद ही उन्हें लगने लगा कि उन्होंने ग़लत सलाह दी है। वो नहीं चाहते थे कि मैं जाऊँ लेकिन एक बार कह कर उसे वापस लेना उनके ईगो के खिलाफ था। मैं बम्बई चली आयी।

राकेश जी और कमलेश्वर जी दोनों मुझे स्टेशन पर छोड़ने आये थे। गार्ड ने अंतिम सीटी भी दे दी थी लेकिन राकेश जी तब तक, भी मुझे रोकने की हिम्मत नहीं बटोर सके थे। जब मुझे बम्बई पहुँचे तीन-चार दिन हो गये तो राकेशजी ने हार कर भाभी को ट्रंक-काल किया कि जिस पहली गाड़ी की टिकट मिले, वह मुझे तुरन्त दिल्ली के लिए रवाना कर दें। भाभी ने भी देर नहीं लगायी। उस शाम को ही मुझे दिल्ली के लिए रवाना भी कर दिया। वहाँ राकेश जी फ़ोन करने के बाद भी बेचैन रहे। फिर पता नहीं क्या सूझी इधर से खुद गाड़ी से बम्बई के लिए रवाना हो गये और कमलेश्वर जी को यह काम सौंप गये कि वह बम्बई फ़ोन कर दें कि मुझे भाभा वहीं रोकें वह खुद ही आ रहे हैं। लेकिन हुआ यह कि मानसून की गड़बड़ी के कारण फ़ोन तब लग पाया जब मैं वहाँ से रवाना हो चुकी थी। नतीजा कि राकेश जी बम्बई पहुँचे तो मैं नदारद और जब मैं दिल्ली पहुँची तो राकेश जी नदारद। वो रात मैंने कैसे रो-रो कर काटी थी, कमलेश्वर जी ही जानते हैं। अम्मा थीं कि सब देख कर एकदम चुप बैठीं अफ़सोस करती रहीं फिर समझाने लगीं, "ओदा ता इक मिंट भी दिल नई लगदा तेरे बिना...रो न।" थोड़ी ही देर में बम्बई से फ़ोन आया। राकेश जी बोले कि अब मैं फिर यहाँ से पहली गाड़ी पकड़ कर बम्बई पहुँच जाऊँ। मैंने जब कमलेश्वर जी से कहा कि मैं नहीं जाऊँगी, क्योंकि राकेश जी फिर कहीं दिल्ली न पहुँच जायें तो कमलेश्वर जी हँस कर बोले, "वो इतना गधा नहीं है।" मैंने सिर्फ़ इतना ही कहा, "लेकिन...?" तो कमलेश्वर जी ने पूरा किया "गधा तो है ही।" और फिर जोर से हँस दिये।

बम्बई में हमने फिर कुछ दिन मित्रों से मिलने में निकाल दिये। जब दिल्ली पहुँचे तो परीक्षा सिर पर थी। ग़नीमत इतनी कि फ़ेल होते-होते बची। इस खुशी में कमलेश्वर जी, जवाहर भाई और राकेश जी ने छत पर ठंडी बीयर का सेवन किया था और अम्मा ने असली घी के लड्डू बना कर खिलाये थे।

मेरे बम्बई जाने का दूसरा नतीजा यह हुआ कि 'काँपता हुआ दरिया' का सिरियलाइज़ेशन का भी वहीं अन्त हो गया था जो कि बड़े आराम से 'नयी कहा-

नियाँ' में बराबर निकलता आ रहा था।

उसके बाद कितनी बार राकेश जी पहाड़ों पर गये और लौट आये। उन्हें समझाना बहुत मुश्किल था—सुबह जम कर अपना काम करने की बात करते और शाम को अचानक शिमला जाने की योजना बना लाते। फिर चले भी जाते—लेकिन मन न लगने की वजह से वहाँ से लौट आते—बहाना यह करते कि तेरी याद आती रहती थी कि अकेली बैठी बोर हो रही होगी...चलो, चले चलो, आदि-आदि।

"लेकिन आप तो बोर नहीं हुए थे न वहाँ...मेरी ही वजह से...." बात पूरी भी नहीं होती तो बोलते—

"तो तू क्या समझती है मैं अपने लिए लौटा हूँ—एक बार फिर कह वही बात तो फिर वापिस जाकर बता दूँगा।"

"अच्छा-अच्छा अब के लिए रहने दो। अम्मा ने खाना बनाया हुआ है खा लो—कुछ दूसरी बार जाने के लिए भी रहने दो।"

और यह बात सच भी थी कि घर से बाहर जाकर उन्हें कुछ दिनों के लिए अच्छा लगता था और वह भी इसलिए कि मन में तसल्ली थी कि एक घर पीछे है जिसमें वह जब भी चाहें, जैसे भी चाहें आ-जा सकते थे—उन्हें कोई कुछ भी कहने वाला नहीं था। उन्हें एक ऐसे घर की तलाश थी जिसमें एक नालायक लड़का हो लेकिन फिर भी उसके घर वालों को उसकी नालायकी पर नाज़ हो।

"तुम कभी सुधरोगे नहीं?" मैंने एक बार उनके पैर दबाते-दबाते रात में पूछा। मैं मज़ा ले रही थी। वो उचक कर बैठ गये, बोले, "तुमने वो कहानी सुनी है कि एक बार एक बाज़ के लम्बे गन्दे नाखून काट कर एक बुढ़िया ने उसे हमेशा के लिए नाकारा कर दिया था।"

"तो मैं बुढ़िया हूँ?"

"बातें तो दादी-सी कर रही हो।"

"लेकिन तुम अपने-गन्दे नाखून बरक़रार रखना चाहते हो।"

"क्यों नहीं—आखिर फिर शिकार किससे करूँगा—कभी-कभी शिकार में पता नहीं क्या-क्या हाथ लग जाता है।"

दिल्ली में भी राकेश जी ने मेरा अपने मित्रों से परिचय कराया और उनके घर आना-जाना शुरू कर दिया। श्री और श्रीमती ओंप्रकाश जी, मन्नू-राजेन्द्र, श्री और श्रीमती जवाहर चौधरी, श्री और श्रीमती सुरेश अवस्थी, श्री और श्रीमती नेमिचन्द्र जैन, श्री और श्रीमती भारतभूषण अग्रवाल, श्री और श्रीमती बंसीलाल कपूर तथा श्री और श्रीमती भीष्म साहनी के दायरे में मैं अब तक बिलकुल खप चुकी थी। कहीं पर भी कोई भी मौक़ा होता, 'राकेश-अनीता' के बिना सबको अधूरा-अधूरा सा लगता। इससे अलग हट कर एक और ग्रुप राकेश जी ने और

मैंने मिल कर बनाया था—जिसमें 'थियेटर प्राणी' थे। इनमें ओम और सुधा शिवपुरी, राजेन्द्रपाल, रमेशचन्द्र, राजिन्दर नाथ, गुलाटी, प्राण, सत्यदेव दुबे और श्यामानन्द जालान, जे० डी० सेठी आते थे। फिर इन सब से अलग हट कर एक और ग्रुप की स्थापना की जिसमें रेखा, चमन, इन्दर मल्होत्रा, मदन गुप्ता, शीला आदि आते थे जो नितांत नॉन-प्रोफ़ेशनल ग्रुप था। यह ग्रुप हालाँकि चमन की डैथ के साथ ही समाप्त भी हो गया था। उसमें से ले-दे कर एक मदन गुप्ता ही रह गया था जिसके साथ बैठ कर पुराने कॉफी-हाऊस में बिताये दिनों की कभी याद कर लिया करते थे। इसके इलावा शुरू-शुरू में रवीन्द्र कालिया, रमेश बक्षी आदि ने राकेश जी से काफी पैट्रोनेज पायी, फिर दूर-दूर चले गये...बाद तक भी ज़रूरत के वक्त राकेश जी को याद करने वाले रमेश बक्षी और दूधनाथ सिंह ही रह गये थे। दो मित्र ऐसे भी थे जो बराबर आकर मिलते रहे जिन्हें राकेश जी से कोई लाभ-प्राप्ति का रिश्ता नहीं था—वे थे श्री शरद जोशी और दुष्यंत।

इस पूरे जमघट में मैं राकेश जी के अपने प्रत्येक मित्र के साथ उनके अलग-अलग बनाये रिश्तों को समझती रही। इनमें से कई प्रोफ़ेशनल होते हुए भी कहीं एक आत्मीयता का रिश्ता भी रखते थे। उनमें थे—श्री ओंप्रकाश, डॉ० मदान, ओम शिवपुरी, श्री जवाहर चौधरी, श्रीमती शीला संधू, शरद जोशी, दुष्यंत, नन्दन, भीष्म साहनी, भाई-भाभी और श्री गिरधारीलाल वैद।

इन सब से आत्मीयता का रिश्ता अधिकतर इसलिए भी था क्योंकि यह मित्र भी राकेश जी की तरह ईमानदार थे। इनमें अगर उनका कोई सबसे ज़्यादा तकलीफ देने वाला लेकिन आत्मीय मित्र था तो वह एकमात्र कमलेश्वर ही थे। पता नहीं उन्होंने राकेश जी को क्या सुँघा कर रखा हुआ था! राकेश जी ख़ुद भी कहते थे कि अगर ज़िन्दगी में मैंने किसी की ज़्यादियाँ बर्दाश्त की हैं तो वह तुम्हारी हैं और या फिर कमलेश्वर की। हम दोनों हँस देते।

राकेश जी किसी लड़की को मित्र बनाते तो मैं भी उसे अपना मित्र बना लेती। वो नाराज़ होते बोलते—"तू हर ख़ूबसूरत लड़की को अपनी भी सहेली बना लेती हैं—नतीजा कि इतनी घर की हो जाती है कि कोई रोमांस की गुंजाइश ही नहीं रहती।" "पर आप ने ही तो कहा था कि आपके सब दोस्त मेरे भी दोस्त हैं।" इस पर वह भनभनाते। अब घर में जो लोग आते वो मिलने तो राकेश जी को ही आते लेकिन घर मेरे आते थे। "अच्छा तो अनीता, आज क्या खिला रही हो—" जवाहर भाई सीढ़ियों से ही चिल्लाते आते। यह वही जवाहर भाई थे जो पहली बार मुझ से मिलने पर यही सुन कर घबरा गये थे कि यह लड़की कानवेंट की पढ़ी हुई है। उन्होंने राकेश जी और कमलेश्वर जी से कह भी दिया था कि भई घर तो आना-जाना रहेगा लेकिन अनीता से बातचीत बहुत मुश्किल रहेगी। फिर राजेन्द्र पाल से पहली बार राकेश जी ने संगीत-नाटक एकेडमी में मिलवाया

था तो मैंने छूटते ही उसे घर आने को कहा था। अगले दिन वो सच ही आ भी गया था। "राकेश जी कितनी बार मिले लेकिन घर आने को उन्होंने एक बार भी नहीं कहा। आपने बुलाया, मैं एक दम आ गया।" फिर उसके बाद जब भी आता—"कुछ है खान नूँ—बड़ी पुख लगी है।" श्यामा आते तो अपने ही 'बाप का घर' समझते। सोते को भी जगाते, "भूख लगी है भई...यह कोई सोने का वक्त है।" राकेश जी डाँट भी देते कि अभी-अभी-अभी सोयी थी, तूने आकर उठा दिया। "अच्छा-अच्छा कोई और बात करो।" श्यामा रोब से कहते।

गाहे-बजाहे मुझे कमलेश्वर जी, चौधरी, शिवपुरी, श्यामा, राजेन्द्र पाल से पता चलता रहता कि वो कई-कई बार सिर्फ़ मेरी और मेरी ही बातें करते रहते हैं। उनसे यह कहते रहते कि अनीता के बिना मैं अब एक दिन भी नहीं जी सकता। वो मेरे जीवन का एक अंग बन गयी है। घर में एक दिन भी उसके बिना काटना मुश्किल हो जाता है—इसलिए मैं ज़रूर कहीं एक-दो दिन के लिए चला भी जाता हूँ लेकिन उसे एक दिन के लिए भी कहीं जाने नहीं दे सकता। मैं जब राकेश जी से पूछती कि क्या यह बात सच है तो कहते, "तेरे से गप करते हैं—तुझे बनाते हैं—वो जानते हैं कि अगर वो तुझे मस्का नहीं लगायेंगे तो तू उन्हें घर में ही नहीं आने देगी।" फिर वही ठहाका। मैं भी मज़ा लेती। कहती कि मुझे आपने ही तो कहा था—'लव मी, लव माई...,' वो मेरी तरफ लपकते। कहते—"कह कर देख आगे।" मैं पलट कर कहती—"चैलेंज मत करो, नहीं तो कह दूँगी" "तू एक बार कह कर तो देख।" मैं फिर दोहराती "लव मी, लव माई...गाड्स।" राकेश जी देखते रह जाते। लेकिन यह बात सच है कि मैंने उनके मित्रों को सच ही दिल से अपनाया था। धीरे-धीरे वह छोटा-सा घर एक बहुत बड़ा कुटुम्ब बन गया था—जहाँ कुछ लोग सिर्फ़ हँसने-हँसाने आते तो कुछ सिर्फ़ अपना रोना-धोना सुनाने आते। यह सब मित्रों के दिल में बैठ गयी थी कि अगर किसी को कहीं और जाना न सूझे तो 'राकेश-अनीता' के घर तो जाया ही जा सकता है। कई-कई बार तो रात ग्यारह बजे भी राकेश जी अपनी टोली लिये खाना खाने पहुँच जाते। बस इतनी मेहरबानी ज़रूर करते कि आने से पहले एक छोटा-सा फ़ोन लगा देते—"हम छः आदमी खाने के लिए पहुँच रहे हैं।" और कभी-कभी जब ज़्यादा दया आती तो रुमाली या कोई मीट की डिश भी उनके मित्र उठाते लाते।

बहुत बार हमारे मित्र हम से पूछते कि क्या अब हमने पहले जैसे 'लड़ना-बड़ना' छोड़ दिया है तो मैं कहती, "ऐसे कैसे हो सकता है—अपने टॉनिक के बिना हम लोग कैसे रह सकते हैं—लेकिन इतना ज़रूर अन्तर आया है कि पहले की तरह अब बक्से बाँध कर माँ के घर नहीं चली जाती। कौन पहले बक्से बाँधे फिर खोले—एक तो एनर्जी बहुत लगती है, दूसरे पैसा भी बहुत बरबाद होता

है—फिर आजकल कड़की के साथ-साथ मँहगाई भी बहुत है।" यह बात सच भी थी क्योंकि पहली तारीख को जो घर-खर्च राकेश जी मुझे देते थे उसमें ५० रु० अलग सिर्फ़ लड़ाई के खर्चों के लिए ही दिया जाता था—लेकिन जैसे ही स्कूटर-टैक्सी के भाड़े बढ़ गये मैंने ज़्यादा माँगना शुरू कर दिया—जोकि सम्भव नहीं था। इसलिए तय यही हुआ था कि लड़ने के बाद हम अपने-अपने कमरों में बन्द हो जाया करें और जब सुलह की इच्छा जागे तो फिर तीसरे कमरे में चले जायें—और अगर वहाँ भी कुछ न बने तो फिर चौथे अथवा अम्मा के कमरे में अपना-अपना रोना जाकर सुनायें...और अगर फिर भी कुछ न बनें तो ईश्वर पर छोड़ दें। सिर्फ़ इसी बात को ध्यान में रख कर चार कमरे का बड़ा फ्लैट लिया गया था।

बाहर से राकेश जी जितने सीधे और सरल दीखते थे उतने वास्तव में थे नहीं। उन्हें अन्दर तक ठीक से समझना एक बहुत बड़ी तपस्या थी। बाहर से जितने इन्फार्मल, उतने ही ज़्यादा मन से फार्मल। जिन मित्रों के साथ वह अत्यन्त इन्फार्मल रहे वह उन्हें इससे अधिक नहीं जान सके। और जिनके साथ नज़दीक थे वह भी उससे अधिक उन्हें नहीं जान सके—क्योंकि राकेश जी केवल अपने लिए ही कहीं पूर्ण थे। मैं कभी-कभी उनके भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहारों के बारे में पूछती तो कहते, "हर आदमी की एक निजी भूख होती है। मैं अपने प्रत्येक मित्र के साथ अलग-अलग तरह से पेश आता हूँ—हर आदमी को एक ही लेविल पर नहीं लिया जा सकता।" यह बात सच भी थी। वह अपने प्रत्येक मित्र के अच्छे और कमज़ोर पक्षों के बारे में अच्छी तरह जानते थे। उनका कहना था—"प्रत्येक व्यक्ति अपने अच्छे पक्षों के साथ केवल अपनी कमज़ोरियों के साथ ही पूर्ण होता है—क्योंकि हम किसी भी व्यक्ति को केवल उसकी अच्छाइयों के साथ ही नहीं स्वीकार कर सकते—कहीं उस व्यक्ति के अन्दर की कमज़ोरियों के साथ ही हम उसे प्यारा दोस्त कहते हैं—उससे प्यार करते हैं। अन्दाज़ा लगाओ कि यदि कोई व्यक्ति केवल अच्छाइयों का ही मारा हो तो वो कितना पोज़िंग हो सकता है।"

यह बात सच भी थी। वह अपने भिन्न-भिन्न मित्रों के साथ भिन्न-भिन्न तरह से पेश आते थे—यद्यपि असली राकेश वह नहीं था। अपने में राकेश एक बहुत ही मलँग व्यक्ति था। उस तरह से वह सिर्फ़ अपने आप को आइने में देखता था और खुश होता था। उसे अच्छा लगता था अपने को वैसा देखने में—क्योंकि वह यही था।

कितनी बार मैंने राकेश जी के साथ उनके व्यवहार में लाये तौर-तरीक़ों से उनसे बात करने की कोशिश की लेकिन वह मुझसे कहते, "काहे को भटकती फिरती है...मैं न यह हूँ, न वो हूँ...।" और वो मेरे हाथों को अपने नंगे जिस्म से

छुआते और कहते—"मैं सिर्फ़ यह हूँ ।"

"और वो सब ?"

"वो और लोगों की भूख होती है, जिसे निभाना होता है...क्योंकि उसके बिना भी गुज़ारा नहीं है...तुम्हें भी तो सब सीखना चाहिए...।"

बात भी ठीक थी—उन्होंने प्रत्येक मित्र को कोई न कोई दर्जा या स्थान अपने जीवन में दिया हुआ था और उन ही की तरह उनसे पेश आते थे। यद्यपि कई बार उन्हें अपने बनाये हुए भिन्न-भिन्न इमेज को लेकर तकलीफ़ भी उठानी पड़ती थी—जैसे जब कुछ भिन्न-भिन्न प्रकार के मित्र एक साथ बैठते थे तो राकेश जी की एकतरफ़ा इमेज को लेकर अन्य मित्र काफ़ी तकलीफ़ पाते थे—उनमें से एक मैं भी थी। घर से बाहर राकेश जी का व्यवहार कुछ और होता था और घर में एक दम और। एक अरसा लगा मुझे इस ताल-मेल को बैठाते। यद्यपि बाद में आकर राकेश जी ने मेरे साथ ज़बदस्ती करनी छोड़ दी थी। बाहर जाकर मैं एक दम भटक जाती थी। लगता था कि मेरा घर और मेरा राकेश मुझ से छिन गया है। हो सकता है कि यह मेरे प्रारम्भिक जीवन में मिली असुरक्षा की भावना की ही देन थी लेकिन मेरे जीवन का एक अंग तो बन ही चुकी थी।

"मैंने भी जीवन में असुरक्षा इतनी भोगी है अन्ना, लेकिन क्योंकि ज़िन्दगी में अकेला इतना जूझा और लड़ा हूँ कि अब स्थिति को निभा ले जाना मेरे व्यक्तित्व का एक आवश्यक अंग बन चुका है।" यद्यपि निभाना राकेश की प्रवृत्ति के विरुद्ध बात थी लेकिन उनका कहना था, "कि जब किसी व्यक्ति के बोना-फाइड्स में सन्देह न हो तब बात और होती है।"

इसके अतिरिक्त कहीं बहुत संस्कारग्रस्त भी थे—अर्थात् अपने से बड़ों का मान रखना, इज्ज़त करना उनकी इच्छानुकूल प्रवृत्ति थी—इसके विपरीत कहीं प्रोग्रेसिव। जैसे वो चाहते थे कि उनके मित्रों के साथ मेरी एक अपनी अलग इक्वेशन हो, अन्डरस्टैंडिंग हो। उनकी इसी प्रवृत्ति ने शायद मेरे अन्दर खोया विश्वास फिर से पैदा किया। हालाँकि शुरू शुरू में राकेश जी ने ज़बरदस्ती मुझ पर अपनी आदतें मनवाने की कोशिश की—जिसके दौरान उन्होंने महसूस किया किया कि मुझे सबसे पहले विश्वास, प्यार और सुरक्षा की कितनी आवश्यकता थी—उसके बिना शायद मैं कभी भी कुछ नहीं सीख सकती थी। हम साथ रहते तो लड़ते रहते, अलग होते तो रोते रहते, एक अजीब विडंबना थी !

"मैंने तुम्हें क्या नहीं दिया ?" राकेश जी झुँझलाते।

"वो सब जो मुझे पहले भी मिलता था—और जो तब नहीं मिला था वो अब भी नहीं मिलता।"

"क्या ?"

"प्यार !"

"और अगर यही बात मैं कहूँ।"

"कहो नहीं—करो।" और एक सारी रात मैं उनके सीने पर सिर रख कर रोती रही थी और उन्होंने अपनी विशाल छाती में मुझे समा लिया था।

फिर किसी दिन दूसरे ही मूड में होते।

"अब तू मेरा घर छोड़ कर जायेगी कि नहीं?" मैं हैरान उनकी तरफ़ देखती, "क्यों?"

"तूने मेरा रेकार्ड ख़राब कर दिया है। दो साल से ज़्यादा मैं किसी औरत के साथ नहीं रहा। पहले मैंने सोचा कि दो-तीन साल के बाद चली जायेगी। लेकिन छ: साल हो गये तेरे जाने के कोई आसार ही नज़र नहीं आ रहे। पहले एक बच्चा—फिर दूसरा—अब तीसरे का इरादा तो नहीं—अच्छा यह सोच के बताना कि कब जा रही है लेकिन यह बता दे कि बच्चों को लेकर जायेगी या छोड़ कर...।"

एक ऐसे ही दिन दोपहर में कमलेश्वर जी अचानक घर पहुँचे तो देखा कि दोनों बच्चे और दोनों हम पलँग पर फैले बैटे हैं। कमलेश्वर जी छूटते ही बोले, "अरे यार, तेरा यह हाल हो गया क्या?" दोनों ज़ोर से हँसे। फिर राकेश जी बोले, "अरे अभी कहती है कि इस एनीवर्सरी पर हम सब उसी हलवाई की दुकान पर जायें।" मैंने समझाया—"उस भले हलवाई ने हमारा क्या बिगाड़ा कि उसे जाकर अपने आगे का हाल सुनायें—अपना दु:ख, दर्द मैं उस हलवाई के साथ नहीं बाँटना चाहती।"

फिर एक दिन लगता कि जैसे वह ज़िन्दगी से बहुत उठा हुआ व्यक्ति है—एक्सट्रीमली इंटेलैक्चुअल और कभी-कभी एक्सट्रीमली इमोशनल मानो ब्रैस्ट-फीड करके बड़ा करना होगा। किसी भी व्यक्ति में एक साथ यह दोनों बातें एक अजब द्वन्द पैदा कर सकती हैं लेकिन राकेश जी में दोनों ही बातें सहजता से विद्य-मान थीं। अगर किसी पर प्यार आया तो उस पर फ़ना हो गये और अगर किसी पर गुस्सा आया तो उसे फ़ना कर गये। बौद्धिक गुण उन्होंने अपने पिता से पाया और असीम स्नेह की भावना माँ से ली। इन दोनों प्रवृत्तियों का द्वन्द कुछ-कुछ ऐसा ही था—जिस दिन देखा कि मैं फ्रिज में दनादन फल, सब्जी की भर्ती कर रही हूँ, तुरन्त अपनी स्टडी में कान पकड़ कर ले जाते। फिर अपनी कापी निकाल कर कहते, "यह, यह, यह पैसा अभी नहीं आने वाला। इसलिए थोड़ा सँभलो, देवी! मुझ पर नहीं तो कम से कम फ्रिज पर तो रहम खाओ। उसी पर कम बोझ लादो।"

फिर जब मुझे सब्जी वाले से उलझते देख लेते, तो फिर कान पकड़ कर अपनी स्टडी में ले जाते, "क्या पाई-पाई के लिए झगड़ती रहती है। ऊपर से टके-टके की सब्जियाँ खरीदती है—मेरी भुजाओं में विश्वास नहीं है क्या?"

लेकिन इन सबसे हट कर जो राकेश जी के व्यक्तित्व का सबसे प्रबल पक्ष था वह था उनका ईगो, जिसको किसी भी स्थिति में राकेश जी ने काम्प्रोमाइज़ नहीं होने

दिया और न ही कभी किसी मित्र ने उन्हें इस बात पर चैलेंज ही दिया। मुझे याद है कि एक दिन राकेश जी का और मेरा झगड़ा हुआ—नतीजा यह कि मैंने शिमला जाकर ट्रेनिंग करने का निश्चय ले लिया था। राकेश जी समझ गये थे कि यह मेरी हुज्जत है और कुछ नहीं। लेकिन यह सच भी था। मैं जानती थी कि मेरे चले जाने से राकेशजी का क्या हाल होगा, लेकिन फिर भी मैं अड़िग रही। राकेश जी ने टिकट बुक करवा दी और फिर जाने का भी दिन आ गया। स्टेशन पर हम लोग आसपास लोगों को आते-जाते देखते रहे और कभी-कभी चोरों की तरह नज़रें मिला लेते—बस। राकेशजी जानते थे कि वह एक बार भी मुझे रुकने को कह देते तो मैं निश्चित ही रुक जाती। लेकिन उनकी ईगो को यह गवारा नहीं था। इसलिए गार्ड की सीटी के साथ ही मैं गाड़ी में सवार हो गयी थी। यह अलग बात है कि तीन-चार दिन में ही मैं घर वापिस लौट आयी। राकेशजी मेरे जाने के बाद कलकत्ता चले गये थे। श्यामा 'लहरों के राजहंस' की रिहर्सल ले रहे थे। अपने लौट आने की सूचना देने की हिम्मत मुझ में नहीं थी इसलिए जब तक वह लौटे नहीं, मैंने एक-एक दिन रो-रो के काटा। जब वह लौटे तो मुझे देख कर खुशी की जगह उन्हें क्रोध आया जो कि बहुत स्वाभाविक था। वह सारा दिन मुझसे नहीं बोले। लेकिन रात में जब मैं अपने पलँग पर लेटी सुबक-सुबक कर रो रही थी कि राकेशजी ने मेरा सिर अपनी गोद में ले लिया जिससे मैं फूट-फूट कर फिर रो पड़ी, "अब कभी नहीं जाऊँगी—राजे, प्रामिज़, कभी घर छोड़ कर नहीं जाऊँगी—मुझे सँभाल लो राजे...मैं बहुत कमज़ोर लड़की हूँ...मुझे ऐसे मत छोड़ दिया करो।"

"क्यों मुझे तंग करती रहती है—याद है तूने मुझे कहा था कि तू मुझे सँभा-लोगी...उस पर मुझ से शिकायतें करती रहती है—अब मेरा और कितना वक्त लेगी अन्ना—मुझे कितना काम करना है।"

"अब कभी ग़लती नहीं करूँगी, राजे...इस बार और माफ़ कर दो...।"

"ग़लतियाँ नहीं करेगी...यह मैं नहीं मान सकता...क्योंकि इसके बिना तू अपनी नहीं बहुत बेगानी लगेगी..."इससे पहले कि मैं कुछ कहती वह बोले, "औरतें बहुत बोलती हैं...उन्हें चुप कराने का एक ही तरीक़ा है और वो है...।"

कितनी बातें सिर्फ़ यादें बन कर रह जाती हैं! और यादें अच्छी हों या बुरी हर हालत में तकलीफ़ देती हैं।

मुझे याद है कि जब ओंप्रकाशजी ने अचानक राजकमल छोड़ दिया था तो राकेश जी कितने परेशान हो गये थे। "आखिर कुछ तो सोचा-समझा होता," उन्होंने कहा था। "लेकिन आप कौन से फैसले जल्दबाज़ी में नहीं लेते। आखिर

हैं तो वो भी आपके ही मित्र।" उसके साथ ही कमलेश्वर जी ने भी 'नई कहा-नियाँ' से इस्तीफ़ा दे दिया था।

फिर जब एक दिन बहुत ही ठंडे दिमाग़ से राकेशजी ने अपना अन्तिम फैसला कमलेश्वर जी और चौधरी भाई को सुना दिया कि अब वह राजेन्द्र यादव से और नहीं निभा सकते तो उसके तुरन्त बाद उन्होंने यह बात राजेन्द्र से जाकर कह भी दी थी।

कमलेश्वर जी का दिल्ली छोड़ कर बम्बई चले जाना। उस दिन राकेश जी को लगा, दिल्ली वीरान हो गयी है। शाम को टेप-रिकार्डर लेकर हम दोनों बैठ गये थे और अवा-तवा बोलते रहे। बिल्कुल वैसे का वैसा जो हम दोनों ने बोला था बीज नाटक 'शायद' ही है। उसमें जो देव है वह यथार्थ में कमलेश्वर हैं।

फिर चमन की मृत्यु। मदन ने टेलीफ़ोन पर रात के ग्यारह बजे यह समाचार दिया था। गर्मियों के दिन थे। हम लोग चुपचाप बाहर आकर वैसे के वैसे चारपाई पर लेट गये थे। किसी ने कोई बात नहीं की थी। काफ़ी देर के बाद राकेशजी ने आकाश की तरफ़ देखते हुए कहा था, "इतने बड़े ब्रह्माण्ड में सैकड़ों नक्षत्रों के बीच आदमी का अस्तित्व सिर्फ़ एक छोटे से बिन्दु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं—और उस बिन्दु का इतने बड़े ब्रह्माण्ड के बीच कुछ भी अस्तित्व नहीं।"

फिर कमलेश्वर जी और राकेश जी ने जब अन्तिम फैसला लिया था कि चौधरी भाई को अब 'अक्षर' कल से ही छोड़ देना चाहिए।

मुझे याद है जब हिन्द-पाक युद्ध छिड़ा था, मैं उन दिनों बम्बई में थी। उस युद्ध और हवाई-हमलों के दिनों में भी राकेशजी ने ज़िद करके मुझे वायुयान द्वारा दिल्ली बुलवा लिया था। मेरे दिल्ली पहुँचते ही कैसे मुझे सीने से चिपका लिया था!

पहली डिलीवरी बम्बई में ही होनी चाहिए, इसलिए मैं तीन महीने पहले ही बम्बई चली गयी थी। इस बीच में किसी ने राकेश जी को फ़ोन किया कि अनीता के स्टिल बेबी हुआ है। राकेश जी तड़प गये थे। उन्होंने शीला जी (संधू) को फ़ोन किया कि वह किसी तरह से उनकी जल्द से जल्द बम्बई के लिए एयर-बुकिंग करा दें—फिर टेलीफ़ोन पर बात होने से तसल्ली पा गये थे कि ऐसी कोई बात नहीं हुई, अभी तो डिलीवरी में ही दिन बाकी हैं। राकेश जी जानते थे कि मुझे उनके बच्चे की कितनी उत्सुकता थी!

बच्ची का समाचार पाते ही वह बम्बई फ़्लाई करके आये थे। मुझे उनसे जच्चा के रूप में कितनी शर्म आ रही थी! दिवाली की रात थी। ज़ोर-ज़ोर से पटाखे चल रहे थे। मानो हमारी बिटिया की आने की खुशी में लोग जश्न मना रहे थे। रात-भर भाभी के घर में ताश चलता रहा। फिर सुबह जब सब सो गये तो राकेशजी अकेले हमसे मिलने अस्पताल आये, मैंने उन्हें देख कर धीरे से

कहा था, "राजे, मेरे बच्चा हो गया है।"

"तुमने बहुत बड़ा काम किया है—मैं देख रहा हूँ।" उन्होंने ज़ोर से ठहाका लगाया था। "मैंने यह तीन महीने पता है क्या कह-कह कर निकाले—'बेबी हैज़ गान टू मेक ए बेबी। बेबी हैज़ गान टू बेबी। हाऊ, लुक, व्हाट ? बेबी' !" फिर कितनी देर तक वह बैठे बच्ची के हाथ-उँगुलियों को देखते सहलाते रहे थे। पहली बार उन्होंने कभी किसी बच्चे को इतने ग़ौर और स्नेह से देखा था।

बच्ची के आने के बाद मानों हम दोनों ही रेसपॉन्सिबल व्यक्ति बन गये थे। मैं अपनी घर-गृहस्थी में जुट गयी थी और राकेश जी अपने काम में। पहली बार उन्होंने एक सिरियलाइज़ेशन पूरा किया था—'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में 'न आने वाला कल'। फिर जम कर 'आधे अधूरे' पर काम किया। लगभग तीन महीने तक वह नज़रबन्द रहे। पुरवा रीढूँ बच्ची थी इसलिए मैंने इस दौरान लगभग वर्ष-भर उसे सीढ़ियों में ही बैठ कर पाला। वहीं गाहे-बगाहे चन्द मिनटों के लिए राकेश जी हमें मिलने आ जाते थे। 'आधे-अधूरे' पूरा हुआ तो पुरवा वर्ष की हो चुकी थी। भाभी के अनुरोध पर हम उसका पहला जन्मदिन बम्बई ही मनाने गये थे। उन दिनों कमलेश्वर जी एक लम्बी बीमारी के बाद स्वस्थ हुए थे। कितने मधुर थे वह दिन !

उसके बाद राकेशजी को नेहरू-फैलोशिप मिला—साथ ही एक फैलो घर पर भी आ गया था—हमारा दूसरा बच्चा अर्थात् हमारा बेटा—शालीन। राकेश जी ने जितनी जल्दी बिटिया का नाम रखा था, उतनी ही देर उन्हें बेटे का नाम रखने में लगी। उनका कहना था कि यह मेरी सरासर ग़द्दारी है कि मैंने बेटा पैदा किया। लड़कियों के नामों का उनके पास ढेर था लेकिन लड़के का नाम—सोचना पड़ेगा।

राकेश जी ने जम कर काम किया—मैड डिलाइट पर एक ज़बरदस्त एक्सपेरीमेंट शिमला में हुआ जो अपने तरीके की नई ही चीज़ थी। फिर एफ० एफ० सी० की डायरेक्टरशिप सिर पर मढ़ दी गयी थी। उस पर ड्रैमेटिक वर्ड (शब्द) पर काम। इस बीच जो थिएटर आन्दोलन उन्होंने शुरू कर दिया था वो अलग। इसी बीच यूरोप के ट्रिप्स—'पैर तले की ज़मीन' से पहले उन्होंने किसी न किसी तरह 'अन्तराल' पूरा करके शीला जी को दे दिया था। 'पैर तले की ज़मीन' के पश्चात 'चाणक्य' के लिए मैटिरियल भी एकत्रित करते जा रहे थे कि—इस बीच बहुत कुछ हो गया।

जून ७२ अन्त में हम अभी मसूरी से लौट कर ही आये थे कि राजेन्द्र पाल ने बताया कि वह और मेरी बहन बबू विवाह करना चाहते हैं। राकेश जी चकित रह गये थे क्योंकि बबू उसी वर्ष दिसम्बर में कहीं केवल १६ वर्ष की होने वाली थी। पाल चूँकि हमारे बहुत निकट का मित्र था जोकि सप्ताह में चार शामें नितान्त हम लोगों के बीच काटने वाला एक अभिन्न मित्र था और दूसरी तरफ़ बबू मेरी अपनी

ही बहन थी, इसलिए राकेश जी ने सोचा कि शायद इस गुत्थी को सरलता से सुलझा लेंगे। लेकिन वास्तव में वह परिस्थिति इतनी विकट निकली कि बस पूछिये नहीं ! इतनी कि राकेश जी को पाल से यह भी सुनना पड़ा—"आई कैननॉट गिव अप दिस रिलेशनशिप ईविन एट द कस्ट ऑफ़ ए डेलिकेट फ्रेन्डशिप।" राकेश जी अवाक रह गये थे।

माँ अब राकेश जी को रोज़ फ़ोन करने लगीं। वो यह नहीं समझ पाये कि माँ की सुनें, पाल की सुनें या फिर अपनी सुनें। नतीजा—राकेश जी ने दोनों की सगाई कर दी लेकिन इतना मान कर कि पाल अब दोस्त नहीं रहा। उसके तुरन्त बाद पाल विदेश चला गया था लौट कर आया तो बहुत देर हो चुकी थी।

कितनी-कितनी बातें राकेश जी के मन में घर कर चुकी थीं। पहली बार जब बबू ने स्पष्ट न कह कर राकेश जी से इतना ही पूछा था कि अपने से काफी बड़ी उमर वाले व्यक्ति से विवाह करने पर उनकी प्रतिक्रिया क्या है तो राकेश जी पूरी बात न जान कर भी यही बोले थे कि 'ठीक नहीं है।' आगे उन्होंने यह भी कहा, "तुम कहोगी कि जब मैंने तुम्हारी बहन को चुना तो फिर कैसे ग़लत है ? तो उसका उत्तर यही है कि वह भी ग़लत था। इसलिए कि तुम्हारी बहन के साथ मैंने न्याय नहीं किया क्योंकि वो अपनी उमर नहीं जी सकी। सारी ज़िन्दगी तो सिर्फ़ मेरे कद तक आने-आने की कोशिश करती रही है जोकि मेरी दृष्टि में उसके साथ अन्याय के सिवाय कुछ नहीं था। मैं चाह कर भी कि वह अपनी ही उमर जीये उसके लिए सम्भव नहीं कर सका, और इसीलिए तुम से यही कहूँगा कि हो सके तो ऐसा न होने देना'।"

लेकिन उसके बाद भी बबू का यह कहना कि 'लोग खुद तो अपनी इच्छानुसार जी लेते हैं लेकिन दूसरों के वक्त पता नहीं क्यों न्याय-अन्याय समझाने लगते हैं।' फिर मेरी एक बात पर पाल ने कहा था— आप चाहती हैं शादी न हो...आदि-आदि।' राकेश जी कुछ नहीं भूल सके। उसके तुरन्त बाद यानी १६ अगस्त को अम्मा का देहान्त हो गया। पाल उस समय घर पर ही था। लेकिन उसके बाद जब राकेश जी को अपनों की अधिक ज़रूरत महसूस हुई तो कोई पास नहीं था। फिर पाल के विदेश जाने से पहले राकेश जी ने अपनी माँ के देहान्त के बावजूद उन दोनों की सगाई की पार्टी भी दी और पाल विदेश चला गया। उसे सी-ऑफ़ करने हम लोग एयरपोर्ट भी गये लेकिन उन्हें सी-ऑफ़ करने पाल नहीं पहुँचा सका।

अम्मा के देहान्त के बाद राकेश जी बम्बई एफ० एफ० सी० की मीटिंग के लिए गये—यों मकसद इस्तीफ़ा देने का ज़्यादा था। बम्बई में भाई, भाभी से भी मिले और चाहते थे कि माँ के लिए फूट-फूट कर रोयें लेकिन उसकी नौबत नहीं आयी। भाभी को मुझे लेकर कुछ मिसअंडरस्टैंडिंग-सी हो गयी थी जिसे सुन कर राकेश जी बौराये लौट आये। लौट कर वह फूट-फूट कर रोये। मैंने उनको

तसल्ली दी कि यह बात तो आपकी ही कही हुई है कि व्यक्ति कमज़ोरियों का पुतला है फिर आपने भाभी की बात को इतना सीरियस क्यों लिया ? लेकिन वह नहीं माने । उन्होंने भाभी को दो लाईन का ख़त लिखा, "भाभी मैं आपकी इज़्ज़त करता हूँ और करता रहूँगा लेकिन एक बात आपको बताना चाहता हूँ कि मैं अनीता की भी बहुत इज़्ज़त करता हूँ ।"

निश्चिय ही मैं राकेश जी को वो खत लिखने से नहीं रोक सकी, लेकिन इतना कर सकी कि भाभी को एक खत अलग से लिख दिया—"भाभी, आप कब से मुझे बड़ा समझने लगी हैं कि मुझ में इतनी पूर्णता ढूँढ रही हैं। मैं हमेशा से छोटी हूँ और मुझे छोटा बने रहने में बहुत आनन्द मिलता है। मैं बिल्कुल बड़ी नहीं होना चाहती हूँ," आदि-आदि।

पर चूँकि पहली बार में ठीक से नहीं लिखा गया इसी से उसे फेयर करके मैंने पहला लिखा पत्र टोकरी में फेंक दिया। अन्दाज़ा लगाइये कि राकेश जी के हाथ में पत्र पड़ गया जिसे ले-ले कर वह हरेक के घर घूमे। ओंप्रकाश जी, जवाहर भाई, कमलेश्वर जी—सबसे यही कहते रहे 'देखो, अनीता बड़ी हो गयी है—मुझे उस पर नाज़ है।' यही बात करने वह अन्तिम बार ओंप्रकाश जी के घर गये थे और जब लौटने लगे तो सीढ़ियों से फिर ऊपर चढ़ आये। ओंप्रकाश जी और भाभी ने सोचा कि शायद कोई बात कहने वापस आये हैं तो अचानक होश में आकर बोले, "अरे, मैंने तो समझा कि मैं घर से उतर रहा हूँ और कोई बात याद आयी थी जिसे अनीता से कहना चाहता था।" यह कह कर वह सीढ़ियाँ उतर गये थे।

घर आये तो मुझसे लिपट गये। "अन्ना, तू मुझे छोड़ कर तो नहीं जायेगी ?" और वह फूट-फूट कर रो पड़े थे।

सब कुछ तेज़ रफ़्तार से नीचे की ओर उतर रहा था। पता नहीं कितने-कितने दिन कितनी-कितनी देर हम दोनों साथ बैठ कर बीते सालों में बनी और टूटी ज़िन्दगियों को याद करते। राकेश जी कहते थे कि ज़िन्दगी के कितने थपेड़े उन्होंने अकेले खाये और झेले हैं—आखिर यह सब मेला इन्सान किस लिए लगाये रहता है। इस किस्म की बातें राकेश जी, पाल और मैंने बैठ कर पहले भी कितनी बार की थीं लेकिन इन दिनों तो सचमुच जैसे वह हार ही गये थे।

अन्तिम हथौड़ा उन्हें अपने भाई के हाथों खाना पड़ा। राकेश जी चाहते थे कि माँ इस चिन्ता को लिये मरी कि वीरेन अभी तक ज़िन्दगी में जमा नहीं है। इसी से इस बार राकेश जी ने माँ के देहान्त पर आये भाई वीरेन से कहा कि वह चाहते हैं कि माँ की इच्छा को उसे अब पूरा कर देना चाहिए। राकेश जी चाहते थे कि वह अब हमारे साथ रहे जिससे हम लोगों को भी माँ का जाना इतना न

महसूस हो और यदि इससे उसकी ज़िन्दगी भी सुधर सकेगी तो माँ की आत्मा को शान्ति मिलेगी।

लेकिन जैसा कि शुरू से ही था, दोनों भाई कभी एक नज़रिए से नहीं देख सके। भाई का कहना था कि जितना भला उन्होंने अपने मित्रों का किया है उतना भला उन्होंने कभी अपने भाई का न चाहा है, न किया है।

राकेश जी ने उसे समझाने की जितनी कोशिश की तो उससे कहीं ज़्यादा मैंने उसे माँ का स्नेह और ममत्व देने की कोशिश की, लेकिन व्यर्थ। उन दिनों श्यामा हमारे यहाँ ठहरे हुए थे। उनसे या फिर ओंप्रकाश जी और राकेश जी की बहन से कुछ भी छिपा हुआ नहीं था, जो उन दिनों दोनों भाइयों में चल रहा था।

जिस दिन वीरेन को जाना था राकेश जी ने श्याम से अशोका में कमरा बुक करने के लिए कह दिया था जिससे कि वह उस समय घर पर न रहें जब वह जा रहा हो—क्योंकि यह उनको सह्य न होता। मुझे वह पीछे छोड़ गये थे और कह गये थे कि जब वह चला जाये तो मैं उन्हें इत्तला दे दूँ।

इन सब किस्सों के बाद राकेश जी अब अन्दर से क्षत-विक्षत हो चुके थे। किसी रिश्ते, किसी दोस्ती या किसी कमिटमेंट में अब उन्हें विश्वास नहीं रह गया था और अगर विश्वास था तो उसे फिर से जोड़ने या मज़बूत करने की हिम्मत बाकी नहीं रह गयी थी। सारा-सारा दिन या तो गुम-सुम बैठे रहते या फिर पुरवा को गोदी में लेकर ढेर-ढेर सा प्यार देते रहते। सारी-सारी रात मुझे पास बिठाये रहते, कहते, "पता नहीं क्यों बिल्कुल अकेला होने से दहशत होने लगी है मुझे—मेरे पास बैठो—मुझे अकेला नहीं छोड़ो।"

फिर एफ० एफ० सी० की मीटिंग मद्रास में होनी तय हुई। वह नहीं जाना चाहते थे लेकिन दो मीटिंगें एक साथ वह छोड़ नहीं सकते थे, इसी से जाना उन्होंने मंजूर कर लिया था यद्यपि जाने का बिल्कुल भी मन नहीं था। बोले, "बस चौथे दिन लौट आऊँगा" कि इतने में गुजराल साहब के यहाँ मीटिंग हुई और तय हुआ कि एशियन थिएटर कांफ्रेंस के लिए उन्हें बम्बई जाना पड़ेगा। राकेश जी ने बहुत इनकार किया लेकिन श्री गुजराल नहीं माने। सुरेश अवस्थी जानते हैं कि अगर श्री गुजराल इतना अनुरोध न करते तो वह बिल्कुल भी नहीं जाते।

घर आकर बोले, "अन्ना, मुझे बम्बई भी जाना पड़ेगा। रह लोगी इतने दिन अकेली?" यह पहली बार था जब सचमुच मुझे भी लग रहा था कि पीछे अकेली होऊँगी—अम्मा जो नहीं थीं। अन्दर से भले ही मुझे कैसा भी लग रहा था लेकिन इस आश्वासन से कि शायद घर से निकल कर उनकी थोड़ी डाइवर्ज़न हो जायेगी मैं बोली, "हाँ, राजे! आपको ज़रूर जाना चाहिए—लेकिन अगर फ़ोन कर सको बाहर से तो अच्छा लगेगा।"

मैंने उन्हें जितना भी हौसला दिलाने की कोशिश की लेकिन वह सच ही मन

से नहीं गये। चलने से पहले बोले, "अब कभी कहीं नहीं जाऊँगा, अन्ना—मैं बहुत थक गया हूँ...।"

चलने से पहले मैंने उनसे वादा लिया कि वह भाई-भाभी से ज़रूर मिलने जायेंगे..."कभी अपनों से भी रुसवा हुआ जाता है...?" राकेश जी ने मुझे वादा दिया था।

बम्बई से उन्होंने पहले अपने होटल से फ़ोन किया...पुरवा से गद्‌गद्‌ होकर बात की, "मैं जल्दी आ रहा हूँ, पुरु।" फिर यही बात गिरधारी के घर से की और यही बात कमलेश्वर के पास से की। उनके पास एक ही बात कहने की रह गयी थी—"मैं जल्दी घर आ रहा हूँ।"

उस बार बम्बई में वह तक़रीबन प्रत्येक मित्र से मिले और बहुत अच्छी तरह मिले। लौट कर आये तो बोले, "अन्ना, अब मैं कहीं नहीं जाना चाहता। क्योंकि मैं कहीं जाता हूँ तो अब मैं असुरक्षित महसूस करता हूँ...मुझे लगता है कि मेरी अन्ना और मेरे बच्चे मुझसे छिन जाते हैं।"

कितनी बार कहने को मन होता कि क्यों इतनी बहकी-बहकी बातें करने लगे हो लेकिन इतनी नाजुक स्थिति हुआ करती कि कुछ कहते नहीं बनता था। सिर्फ़ साथ बैठ कर रो लेते थे।

लौट कर राकेश जी ने बताया था कि २ दिसम्बर को कमलेश्वर दिल्ली आयेगा और रात को खाना घर पर ही खायेगा। पिछली बार क्योंकि कमलेश्वर जी को चॉप्स बहुत पसन्द आयी थीं इसलिए वही बनायी गयीं। शाम को राकेश जी को थोड़ी देर के लिए प्रेस क्लब जाना था इसलिए मुझसे कह गये कि जैसे ही कमलेश्वर आये मुझे फ़ोन कर देना, लेकिन जब मेरा फ़ोन रात १ बजे तक नहीं गया तो उन्होंने फ़ोन किया, "कमलेश्वर तो नहीं आया ?" "नहीं।" मैंने कहा, "फिर मैं यहीं से खाना खाकर आऊँगा।" किसी ने उस दिन खाना नहीं खाया। अगले दिन राकेश जी देर तक सोते रहे, फिर दिन में कुछ देर यों ही अपनी स्टडी में बन्द रहे। शाम को सुरेन्द्र तिवारी और ओंप्रकाश जी ने क्लब में टैम्बोल्ज खेलने का प्रोग्राम बनाया हुआ था जो कि किसी न किसी वजह से कैंसिल हो गया। राकेश जी उन दिनों अजीब स्थिति में जीते थे।

ज़रा-सा प्रोग्राम इधर से उधर हो जाता था तो बच्चों का-सा मुँह बना लेते थे और उदास हो जाते थे।

उस मूड के आने से पहले ही मैंने कहा, "चलो 'एशिया-७२' चलते हैं।" राकेश जी तुरन्त मान गये...लेकिन जा नहीं सके......।

४ दिसम्बर की सुबह घर खचाखच भरा हुआ था—उसके लिए कि जिसे अब किसी की ज़रूरत नहीं थी। वह तन से अवश्य कुछ हद तक वहाँ था लेकिन मन और आत्मा से वह बहुत दूर उड़ान भर चुका था। यह पहली और अंतिम बार

थी जब उसे अपने आस-पास किसी की ज़रूरत नहीं, वह अकेला रहना चाहता था—लेकिन ज़िन्दगी कितनी क्रूर है ! जीते जी कुछ और चले जाने के बाद कुछ और...!

राकेश जी चले गये थे...इसका दुःख इसलिए इतना नहीं था कि मुझे और बच्चों को अकेला छोड़ गये...बल्कि इसलिए कि उन्हें जीने का शौक था...उन्हें ज़िन्दगी से बहुत मोह था। वही एक व्यक्ति था जिसे जीना आता था, जिसने लोगों को जीना, हँसना, खेलना सिखाया था।

ज़िन्दगी में शुरू से ही उन्हें संघर्ष और चुनौतियों का सामना करना पड़ा था। इसलिए उनसे घबरा कर, जीवन का अन्त समस्याओं का समाधान है, यह उन्होंने कभी नहीं माना था। इसीसे मुझे इस बात की राहत ज़रूर है कि उन्हें नहीं पता चला जब जीवन का अन्त हुआ, क्योंकि वो अवश्य उसे सत्य न कर सकते।

राकेश जी के व्यक्तित्व के बारे में कुछ भी लिखना या कहना अपने में एक बहुत बड़ी चुनौती है—एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। मैं स्वयं उसके बारे में कुछ भी कह सकने में अपने को असमर्थ और पराजित पाती हूँ।

कुछ मित्र ऐसे हैं जो शायद यह समझते हैं कि वह राकेश जी को पूरी तरह समझते हैं...यह अपने में एक बहुत बड़ी कल्पना है। लेकिन इतना सत्य है कि उन्हें (समेत मेरे) जितना भी जो भी समझ सका वह ही अपने में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। एक बहुत बड़ी सार्थकता है।

मुझे तो वैसे ही उनके साथ रहने का, उन्हें समझने का बहुत ही कम समय मिला—केवल इतना अन्तर लेकर कि मैंने अन्य लोगों के बनिस्बत उनके साथ कुछ अतिरिक्त सुबह और शामें होती देखी हैं। इस सबके बावजूद भी मुझे लगता है कि यह अपने में बहुत थोड़ा—बहुत न्यून है। इस तेज रफ़्तार से आदि और अन्त हुआ कि समझ ही नहीं आता कि उनके किस पक्ष पर कुछ कह सकती हूँ और किस पक्ष परन हीं। शायद उन्हें पूरा जानने के लिए एक पूरी ज़िन्दगी भी कम थी। सिर्फ़ इसलिए ही नहीं कि उनका व्यक्तित्व बहुत बुलन्द था बल्कि इसलिए और भी कि उनका बहुत कुछ था जो सिर्फ़ उनके अपने लिए ही था—किसी और के साथ शेयर करने के लिए नहीं।

मेरा उन्हें जानना सिर्फ़ उतने दायरे तक ही सीमित था कि जितना उनके साथ जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक था। यों इतना भी अपने में कोई कम अनुभव नहीं था। यह भी उन पंचभूतों से कम नहीं था कि जिनमें एक की भी कमी होने से जीवन का अन्त हो जाता है।

उनके साथ सह-जीवन की सबसे बड़ी और सबसे पहली शर्त थी—'ईमानदारी' वो किसी का तो क्या, अपना झूठ बोलना भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। उनका कहना था कि वो आदमी क्या जो अपने शब्दों को भी ओवर नहीं कर सकता। सबसे पहले आदमी को अपने प्रति ईमानदार होना चाहिए तभी वो दूसरे के साथ भी ईमानदार हो सकता है। एक घटना याद आयी। एक बार श्रीमती जवाहर चौधरी ने फ़ोन किया और कहा कि उन दोनों की इच्छा हो रही है कि वह दोपहर को हमारे यहाँ आयें। राकेश जी ने जवाब दिया कि उन्हें कहीं जाना है इसलिए वो लोग दोपहर में न आकर शाम चार बजे ही आयें, क्योंकि तब तक वे भी लौट आयेंगे—फिर सीधे जाकर अपनी स्टडी में काम करने लगे। लेकिन उनसे काम नहीं हुआ। शाम चार बजे श्री और श्रीमती जवाहर चौधरी आये तो तब कहीं जाकर राकेश जी अपनी फार्म में आये। रात को जैसे ही वे लोग जाने लगे तो राकेश जी से रहा नहीं गया। बोले, "माफ़ करना भाभी, मैंने आपसे झूठ बोला था—दरअसल मैं चार बजे तक काम करता हूँ, इसलिए मैं उससे पहले किसी से नहीं मिलता...।" बात सही भी थी लेकिन झूठ बोल कर बात ढँकना यह उन्हें अपने में बर्दाश्त नहीं था। अगर वह चलने से पहले भाभी को सच न बता देते तो सारी रात या तो करवटें बदलते-बदलते रहते या फिर रात में टैक्सी पकड़ कर उनके घर जा पहुँचते। उन्हें किसी व्यक्ति में किसी बात को न कर सकने की असमर्थता तो समझ में आती थी लेकिन उसकी जगह अगर कोई व्यक्ति झूठ का सहारा ले तो यह उनके बर्दाश्त के बाहर की बात थी। सिर्फ़ इसलिए राकेश जी मुझसे कभी कुछ नहीं छुपा सके और न मैं ही। कोई भी व्यक्ति अगर उन्हें मेरे बारे में कोई भी बात करता तो उन्हें कभी विश्वास नहीं आता, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि जब तक अन्ना इसे क़बूल नहीं करेगी तब तक वो बात झूठी है। इतना ज़बर्दस्त विश्वास पाना कोई एक दिन का संघर्ष नहीं था। यों इस संघर्ष का सामना करना मैंने पहले दिन से ही शुरू कर दिया था। हाँलाकि मेरे इस पक्ष के बारे में वो सह-जीवन शुरू करने से पहले भी थोड़ा-बहुत जान गये थे।

ज़िन्दगी में इतना कुछ स्वयं झेला, खोया और अर्जित किया था कि अब आकर किसी का कुछ भी उनके लिए करना उन्हें बर्दाश्त नहीं होता था। विशेष कर उन लोगों से जो करने के साथ उसे छह बार सुनाते भी थे। ज़िन्दगी में जिन-जिन लोगों ने उनके लिए कुछ किया या दिया तो उसे उन्होंने सिर्फ़ इसलिए ही स्वीकार किया कि मना कर देने से अगला आदमी कहीं अन्यथा न ले ले। यही आदत मैंने अम्मा में भी देखी थी। उन्हें भी अगर कोई कुछ देता तो वो उसे स्वीकार पीछे करती, पहले तो उस देने के बोझ के नीचे आ जातीं।

लेकिन राकेश जी में और अम्मा में जो बात सबसे बड़ी थी वो यह कि उन्हें कोई चीज़ पसन्द हो या न हो, किसी की बातें अच्छी लगें या न लगें उन्हें निभाना बहुत

आता था। अगले आदमी को यह कभी महसूस नहीं होता था कि उन्हें उसका कुछ भी बुरा लगा है। बिलकुल वैसी ही बातें जब मैं राकेश जी के साथ करती तो वो मुझे डाँट देते कि तू भी ऐसी ही बातें कर रही है। तुम्हें बाहर वालों में और घर वालों में कुछ भी अन्तर महसूस नहीं होता। अगर मैं बाहर वालों के साथ भी अपने घर का-सा व्यवहार कर सकता तो मुझे फिर अपने 'घर' की क्यों ज़रूरत पड़ती। और यह बात सत्य भी थी कि राकेश जी कहीं कितने भी इन्फार्मल क्यों न रहे हों—घर में तो वो उससे कोसों आगे थे—मलंग थे। वो आदमी बाहर जितना इन्फार्मल लगता था—मन से उतना ही फार्मल था। इसी से इधर आकर उन्होंने इतना भी निभाने-निभाने का प्रोग्राम समाप्त-सा कर दिया था। उनका कहना था कि अब काम ज़्यादा और निभाना कम एफर्ड कर सकता हूँ—पहले-पहल तो मैं उनकी इस विभाजित प्रकृति से काफी कनफ्यूज़्ड भी रही लेकिन धीरे-धीरे मुझे उन्हें और जानने, अच्छी तरह जानने का मौक़ा मिलता रहा। जहाँ वो आदमी मुँहफट भी था वहाँ उनमें बर्दाशत का भी बहुत मादा था। ऐसे में कई बार वो घड़ियाँ मैंने उनके साथ काटी भी हैं। इसी विभाजित प्रकृति का ही कारण था कि उन्होंने कभी किसी को अपने घर पर आकर रहने का निमन्त्रण नहीं दिया—इससे उनकी आज़ादी में बहुत फ़र्क पड़ता था। उन्होंने जितने सुख लोगों के साथ बाँटे उतने दुःख नहीं बाँटें। जीवन को उन्होंने अलग-अलग तरीके से झेला और भोगा था। लेकिन इस विषय में अपने मित्रों में बैठ कर उन्होंने उसे कम ही दोहराया था। उन्हें सेल्फ़-पिटी से बहुत नफ़रत थी, इसलिए जहाँ भी गये, जिनमें भी बैठे उन्होंने अपने उत्तरोतर ठहाके ही दूसरों को दिये। बीते हुए कल में उन्हें विश्वास नहीं था। उन्हें तो सिर्फ़ आने वाले कल में ही आस्था थी। जो बीत गया वो खत्म हुआ, जो आने वाला है उसी की प्रतीक्षा रहती।

कई मित्रों ने 'न आने वाला कल' शीर्षक से उन्हें बहुत जोड़ कर देखा और लिखा है जो कहीं बहुत ग़लत है। राकेश जी को जीने में बहुत बड़ी आस्था—एक बहुत बड़ी शक्ति दिखती थी। वो एक व्यक्ति था जिसे जीना आता था और जिसने ज़िन्दगी असली अर्थ में जी थी—उन्हें हर कल में आस्था और दृढ़ विश्वास था। वह जितने दिन भी जिये सिर्फ़ अपने लिए और अपनी शर्त पर जिये—उन्होंने ज़िन्दगी जीने में कभी भी किसी किस्म का कॉम्प्रोमाइज़ नहीं किया। उसके विपरीत जब-जब उन्होंने झेला, उन्होंने उसे अपने तक ही रखा और जब-जब खुशियाँ आयीं उसे अपने मित्रों में ही बाँटी। कारण, उन्हें खुशियों में विश्वास था और उसे ही ज़िन्दगी समझते थे—सिर्फ़ इसीलिए दो बार ज़िन्दगी में उन्होंने कॉम्प्रोमाइज़ नहीं किया। उसे अपनी ही शर्त पर जीने की आस्था लेकर—ठहाके लगाते आगे, और आगे ही बढ़ते रहे।

राकेशजी सब को आधा-अधूरा छोड़ गये। यह भी ग़लत है। उनसे जिस-जिस

व्यक्ति ने जो-जो पाया वही अपने में पर्याप्त है —पूर्ण है। उसी के भरोसे वो लोग अपनी-अपनी पूरी ज़िन्दगी व्यतीत कर सकते हैं। जो-जो कुछ उन्होंने लोगों को दिया वो कम नहीं है—यह बात अलग है कि मनुष्य बहुत लालची होता है। जितना उसे मिलता है उसकी लालसा बढ़ती ही जाती है—लेकिन वहाँ यह भी सच है कि जब मिलना बन्द होता है तो आदमी उसी में संतोष भी करना सीख जाता है। लेने वालों ने और पाने वालों ने उस व्यक्ति से बहुत कुछ लिया और पाया, क्योंकि देने वाला ही बहुत उदार दिल का था—देने-देने में उसे बहुत ज़्यादा वापस मिलता था—सूद समेत। उस व्यक्ति का सूद उसका ज़बरदस्त इगो था जिसका उसके मित्रों ने हमेशा ख़याल रखा—हमेशा मान रखा।

राकेश जी सिर्फ़ व्यवहार में ही नहीं बल्कि अपने लेखन में भी उतने ही ईमानदार थे। उनका कम लिखने के कई कारण रहे हैं—पहले ज़िन्दगी की अस्थिरता—फिर, आर्थिक संकट के कारण गाहे-बगाहे नौकरियाँ करना (उन्हें भी उन्होंने ईमानदारी से निभाया) और सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण कारण उनका सैल्फ रिजैक्शन था। 'स्याह-सफेद','काँपता हुआ दरिया','अन्धेदे बन्द कमरे', 'नीली रोशनी की बाँहें', 'लहरों के राजहंस', 'आधे अधूरे', 'पैर तले की ज़मीन' के छः-छः सात-सात ड्राफ़्ट मौजूद हैं। उनके अनुसार अगर उनके पास पर्याप्त समय होता तो शायद अब भी वह उन्हें ज़रूर दोहराते। अपनी ही कृति को लेकर इतनी ज़बरदस्त पेशयंस थी उनमें! अपने ही लेखन का मानदण्ड उनके लिए यह नहीं था कि लोगों ने कहाँ तक उसे पसन्द किया या स्वीकारा। उनका मान-दण्ड उसकी निजी ईमानदारी ही थी। बस।

फिर एक आदत और थी। कुछ दिन बाहर जाने की वजह से या फिर तबीयत खराब रहने की वजह से अगर कुछ दिन वो काम नहीं कर पाते तो बाद में उसे छोड़ी जगह से आगे नहीं बढ़ा सकते थे—उन्हें उसे फिर पहले पन्ने से ही शुरू करना पड़ता था। इन्हीं वजहों से वो आदमी कम लिखने पर मजबूर था।

इसके साथ-साथ राकेश जी एक बहुत बड़े पॉलीटिशियन भी थे। 'नयी कहानी आन्दोलन' और 'थिएटर मूवमेंट' इसी बात के द्योतक हैं। उन्होंने जब भी तीर छोड़ा तो ठीक निशाना बाँध कर ही छोड़ा। कच्ची गोलियाँ चलाने में उन्हें विश्वास नहीं था। उन्हें हा-हुल्लड़ मचा कर जनता में भगदड़ मचाने से एक और ही आनन्द मिलता था। इसीलिए उनके छोड़े गये तीरों से आहत हुए योद्धा उनके चले जाने के बाद आज भी पीड़ा से कराह रहे हैं।

जहाँ वो आदमी इतना ज़्यादा प्रचण्ड था, वहाँ वह बहुत ज़्यादा इमोशनल भी थे। कभी-कभी बहुत छोटी-छोटी बातों से भी तकलीफ पा जाते थे।

एक बार श्री ओमप्रकाशजी से उनका मतभेद हो गया था। फिर क्या था,

कई दिनों तक न तो उन्होंने काम ही किया और न उन्हें फ़ोन ही किया। मैं सब जानते हुए भी चुप ही रही...क्योंकि मेरी कोई भी बात करने से समस्या नहीं सुलझ सकती थी—बल्कि उनका इगो ही हो सकता था। कभी-कभी मन करता कि ओंजी को ही फ़ोन करके स्थिति समझाऊँ, लेकिन यह और भी डेलिकेट सिचुएशन हो जाती। ओंजी और राकेश जी दोनों ही कॉम्प्रोमाइज़्ड महसूस करते। लेकिन बात अपने-आप ही सुलझ गयी—क्योंकि हार कर ओंजी ने ही हथियार डाल दिये थे—और कोई दूसरा तरीक़ा ही नहीं था।

राकेश जी कई बार ऐसे-ऐसे कष्टों में पड़ जाते थे। लेकिन सिर्फ़ उन्हीं के साथ कि जिनसे उनका आत्मीयता का रिश्ता था। उनके चेहरे से ही मुझे पता चल जाता कि कोई न कोई बात हुई है—कोई न कोई परेशानी है—और यह भी पता चल जाता था कि वो चाहते हैं कि मैं उसे उनसे शेयर करूँ या न करूँ। लेकिन शेयर किये बिना भी नहीं रह सकते थे क्योंकि उनकी आदत थी कि कोई बात वो ज़्यादा देर तक अपने अन्दर नहीं रख सकते थे। कोई बात तत्काल और कोई कुछ समय के बाद बता ज़रूर देते थे।

कहीं का उद्घाटन, कहीं का भाषण और कहीं की कांफ्रेंस उन्हें बहुत दुःखी करती थीं—इसी से वो बहुत बड़े स्नॉब भी माने जाते थे। पिछली 'एशिया थिएटर कांफ्रेंस' में अगर श्री गुजराल इतना अनुरोध न करते तो सुरेश अवस्थी जानते हैं कि वह नहीं जा रहे थे। फिर बम्बई इसलिए भी गये थे श्री करंजिया से अनुरोध करते कि उन्हें एफ० एफ० सी० से मुक्त कर दिया जाये—लेकिन करंजिया नहीं माने। लेकिन जहाँ-जहाँ वह निर्णय लेने के लिए स्वतन्त्र थे वहाँ-वहाँ उन्होंने पद्मश्री को उठा कर ताक में भी रख दिया था।

एक बात और—और वो यह थी कि अगर वह किसी को किसी बात के लिए कंविन्स करने पर आते तो अगला आदमी विश्वस्त हुए बिना नहीं रहता। दूसरी बात कि जो बात वह अगले आदमी के मुँह से कहलवाना चाहते—कहलवा लेते थे जिसे अँग्रेज़ी में 'फ्रॉम द हॉर्सिज़ माउथ' कहते हैं।

किसी व्यक्ति की 'कही गयी किसी बात से परेशान हैं तो यह उनकी कमरे में चहलक़दमी करने से पता चल जाता था। उसके बाद अगर वो व्यक्ति लोकल है तो फिर उससे वह हिसाब-किताब करने उसके घर चले जायेंगे और अगर शहर से बाहर है तो अपनी टेबल पर उसके नाम स्टिकर लिखते पाये जायेंगे। फिर उसे पोस्ट तभी करेंगे जब उसे सुना देंगे। "ठीक है न ?" ऐसे में मॉरल स्ट्रैंग्थ की बहुत जरूरत महसूस होती थी, क्योंकि ऐसी समस्याएँ केवल आत्मीय मित्रों को लेकर ही उत्पन्न होती थीं।

३ दिसम्बर को उनके मित्रों को एक और झटका खाना पड़ा। प्रत्येक मित्र यही समझता था कि अगर राकेश ने अपना सब कुछ शेयर किया है तो सिर्फ़ उसके

साथ ही शेयर किया है। यह इतने मित्र उसके और कहाँ से आ गये ? मैं तो समझता था कि...फिर ख़याल आया कि राकेश की कुल सम्पत्ति तो उसके मित्र ही थे।

यह बात सच है कि उनके जितने भी मित्र थे, वो सब राकेश जी के साथ—बिल्कुल साथ होकर जियें हैं—और उन लमहों में प्रत्येक दोस्त उसे सिर्फ़ अपनी निजी सम्पत्ति ही समझता था। यह भी सच है कि उनके व्यक्तित्व के इतने पहलू थे कि वह कभी भी किसी एक से शेयर नहीं कर सकते थे। आज उनके मित्रों के पास उनके छोड़े गये खज़ाने आज भी शेष रह गये हैं। वह इतने भरपूर और सन्तुष्ट हैं कि अपने-अपने पास छोड़ी गयी सम्पत्ति को औरों की नज़रों से दूर अपने अन्दर छुपाये बैठे हैं— कि कहीं उसे किसी की नज़र न लग जाये। वह उन लोगों के जीवन की कुल सम्पत्ति जो है !

घर में राकेश जी किसी के साथ एक क्षण के लिए भी फ़ार्मल नहीं हो सकते थे। उनकी देर तक सोने की आदत थी, इसलिए १०-११ बजे तक जब भी वह सोते घर में एक दम शान्ति रखनी पड़ती थी। उनकी नींद बड़ी कच्ची थी और वह किसी प्रकार की डिस्टर्बेंस बर्दाश्त नहीं कर सकते थे—फिर अगर काम करने बैठे हैं तो इसलिए शान्ति रखनी पड़ती थी—महज़ इसी वजह से उन्होंने कभी किसी को घर में रहने का निमन्त्रण नहीं दिया—और अगर किसी वजह से कोई रह भी गया है तो फिर अगली शाम के चार बजे तक उससे नहीं मिलते थे—यों कोई बाहर का व्यक्ति घर में है इसी आभास से ही वह अपनी आज़ादी में फ़र्क महसूस करते थे—अपने रोज़ के कार्यक्रम में मन नहीं लगा पाते थे—अपने में हो नहीं सकते थे।

१०-११ बजे उठते तो कई बार अपने पर हँसते-कहते—"हूं...सुबह पाँच बजे उठ कर जाकर सालों की नौकरियाँ बजाओ—अरे, यहाँ तो सिर्फ़ अपनी नौकरी बजाने तक की फ़ुरसत नहीं है।"

उनके विभाजित व्यक्तित्व को दो भागों में बड़ी सूक्षमता से आँका जा सकता था—एक तरफ़ तो हाइली इंटेलेक्चुयल लेविल था और दूसरी तरफ़ हाइली इमोशनल लेविल था। इन दोनों लेविलों को उस व्यक्ति ने बखूबी निभाया भी। कभी भी इन दोनों में कॉम्प्रोमाइज़ नहीं होने दिया। इन दो एक्सट्रीम पहलुओं पर जीने वाला वह अपने किस्म का ही व्यक्ति था।

उस आदमी ने सिर्फ़ अपनी और अपनी ही शर्त पर ज़िन्दगी जी थी। उसने मित्रता भी की तो अपनी ही शर्त पर—जिन-जिन लोगों ने उसे स्वीकारा था सिर्फ़ उसकी शर्तों को मान कर ही स्वीकारा था। इसलिए उनका कोई मित्र ऐसा नहीं जो उन्हें समझा न हो—लेकिन उनकी शर्त मानने के बाद वो फिर उन सबका गुलाम भी हो जाता था। जिस-जिसने उनकी शर्तें मान कर उनको मान

दिया, उन सभी को उस व्यक्ति ने भी उतना ही मान और प्यार वापस दिया। लेकिन उन व्यक्ति को अपना बनाने के लिए पहले अपनी कुरबानी एक बहुत बड़ी शर्त थी—उनके साथ ही बाकी की सम्भावनाएँ बँधी थी।

राकेश जी मेरे साथ कुछ अतिरिक्त उदार रहे—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। सिर्फ़ उदार ही नहीं बल्कि बहुत सहनशील भी रहे। उनकी सहनशीलता का ही कारण है कि ज़िन्दगी में मैं उनसे बहुत कुछ सीख सकी। उन्होंने मुझे सिखाने-समझाने में बहुत रुचि और बहुत धीरज से काम लिया। मैं कहाँ से कहाँ पहुँच गयी—इसकी एक छोटी-सी कहानी मैंने आपको सुनायी ही है।

राकेश जी मेरी क़ाबलियत को ध्यान में रखते हुए मुझे बहुत ज़्यादा नहीं समझा या सिखा सके—लेकिन उतना ज़रूरी अंश ज़रूर समझा सके कि जिसके बिना आदमी ज़िन्दगी में अपने दो पैरों पर भी नहीं खड़ा हो सकता। उन्होंने मुझे ज़िन्दगी में हँसना-खेलना और जीना सिखाया था। एक बहुत सीधी, बेवकूफ, गधी और अल्हड़ लड़की को अपने बहुत पास—सीने से लगा कर रखा था।

उन्होंने मुझे ज़िन्दगी में बहुत मान दिया और दिलवाया भी। कोई अगर मेरे बारे में कोई ग़लत बात कहता तो उन्हें वह अपने मुँह पर तमाचा लगता। उन्होंने मुझे ज़िन्दगी की हर बुरी बात कहने-सुनने से बचाये रखा—एक बच्ची को अपनी छत्र-छाया में पूरी तरह पनपने की अनन्त छूट के साथ।

उन्होंने मुझे हर ग़लत मोड़ पर रोका—और हमेशा सही दिशा दिखायी। मुझे खुश देखने में ही उन्होंने अपनी खुशियाँ मनायीं। मेरे हर ग़लत क़दम पर उन्होंने आँसू बहाये और हर प्रकाश की तरफ़ मेरी नज़रें घुमायीं और मैं...मैं यह समझती थी कि उनके जीवन को सँवारने चली थी और पता चला कि अपना ही सुधरवाने में ज़िन्दगी निकाल दी। मैं भी कितनी बेवकूफ़ थी—इससे बड़ा और क्या सबूत मैं आपको दे सकती हूँ!

वो किसी को आधा-अधूरा नहीं छोड़ कर गये—मुझे भी नहीं। उन्होंने सुना था कि मरने के बाद आदमी अपनी आत्मा अपने बच्चों में छोड़ जाता है। मेरे पास भी वो अपने दो छोटे-छोटे बच्चे छोड़कर गये हैं—और उनमें अपनी आत्मा भी। कभी भी नहीं लगता कि वो नहीं हैं...मुझे अभी भी अपने आस-पास उसी तरह हँसी छोड़ते और प्यार उँडेलते नज़र आते हैं—कैसे मान सकती हूँ जो दुनिया कहती है? दुनिया तो अफवाहें फैलाती ही है—राकेश जी भी कहते थे।

"तू अब बड़ी हो गयी है, अन्ना...मैं कितना निश्चिन्त हो गया हूँ। तुझे लेकर अब मुझे कोई चिन्ता नहीं रह गयी...मुझे विश्वास है कि अब तू सब सँभाल लेती है...।" राकेश जी को सच ही कहीं भरोसा हो गया था कि अब मैं बड़ी हो गयी

हूँ, नहीं तो वह इतनी निश्चिन्तता से सब कुछ मुझ पर छोड़ कर अलग न हो जाते। आज मेरे पास यह सुविधा नहीं है कि मैं 'बड़ी' नाम के शब्द को स्वीकार करूँ या न करूँ।

यह सब लिखते समय बाहर वैसी ही वर्षा हो रही है जैसे पहले दिन हो रही थी। हमारे सह-जीवन को इसी महीने की २६ तारीख को दस वर्ष पूरे हो जायेंगे। आज १५ जुलाई, ७३ है। कैसी नियति है कि इन दिनों में मैं और बच्चे बम्बई में उसी भाभी वाले फ्लैट में आये हुए हैं ! मुझे पूरा विश्वास है कि राकेश जी जब उस दिन घर आयेंगे तो मुझे घर न पाकर सीधा यहीं बम्बई आ जायेंगे।

मैं हर वर्ष इस दिन को उसी तरह मनाऊँगी, क्योंकि उस दिन जितनी खुशियाँ मेरे जीवन में आयी थीं वह कभी नहीं भुलायी जा सकतीं। वह मेरे जीवन का अंग थे और आज भी हैं। मुझे हर वक्त राकेश जी अपने साथ महसूस होते हैं। क्योंकि वो अच्छी तरह जानते हैं कि मैं कभी भी कोई भी ग़लती कर सकती हूँ और वो मुझे हर समय उससे बचा कर दिशा दे सकते हैं।

लेकिन मुझे दिशा देने वाला—खुद दिशा खो गया—क्योंकि उसे दिशा देने वाला नहीं रहा था। उन्हें दिशा देने वाली उनकी माँ थी—अत्यन्त मौन और निश्छल। अम्मा ने राकेश जी को मौन रह कर दिशा दी थी—अर्थात् उन्हें अपने बेटे में असीम विश्वास था। इस असीम विश्वास के बल पर ही राकेश जी जीवन में इतने आगे बढ़े थे। अम्मा ने कभी भी राकेश जी को जीवन के अच्छे-बुरे पहलुओं के बारे में नहीं समझाया था। उन्हें विश्वास था कि मदन जो भी करता है ठीक ही करता है। यहाँ तक कि इतनी कन्वेंशनल माँ होने के बावजूद उन्होंने कभी भी राकेश जी की व्यक्तिगत ज़िन्दगी को लेकर कभी भी कुछ नहीं कहा। मेरी जैसी अनब्याहता लड़की को भी उन्होंने मुझे एक बहू का आदर और स्नेह दिया। यह सब उनका अपने बेटे में अटूट विश्वास होने का ही नतीजा था। राकेश जी को अपनी माँ के मौन रहने में ही असीम विश्वास मिलता था और इसी विश्वास के बल पर उन्होंने ज़िन्दगी में कितने-कितने युद्ध लड़े और जीते भी।

अम्मा के अचानक चले जाने का धक्का उनसे बर्दाश्त नहीं हुआ। उन्हें यह विश्वास भी नहीं होता था कि अम्मा उन्हें कभी छोड़ कर जा भी सकती हैं।

अम्मा के चले जाने के बाद लगा जैसे घर की जड़ें ही हिल गयी थीं। उनके बाद भी हम अपने-आपको अम्मा के साये से दूर नहीं कर सके। लगता था कि अम्मा यहाँ-वहाँ घर के कोने-कोने में विद्यमान हैं। राकेश जी ने उसके बाद तुरंत घर बदलने की कोशिश की लेकिन इतनी जल्दी कहीं भी कोई घर नहीं मिला। शिवपुरी से कितनी बार राकेश जी कह चुके थे कि बंगाली मार्केट में वह हम लोगों के लिए घर खोजें लेकिन इसकी नौबत ही नहीं आयी। तीन महीने के अन्दर-अन्दर ही वह अपनी माँ की गोद में लौट गये।

कभी-कभी लगता है कि कब तक मैं इस यथार्थ को राकेश जी से छुपाये रहती कि माँ नहीं रही। कई-कई बार वो अपनी स्टडी से अचानक बाहर आ जाते और कहते, "अन्ना, माँ नहीं रहीं।" तो मैं उन्हें तसल्ली देकर कहती कि "वो हम सबमें है राकेश जी...वो कहीं नहीं गयीं...।" लेकिन कब तक...?

कितनी-कितनी बार वह स्टडी से बाहर आते और कहते, "अन्ना, एक लफ़्ज़ भी दिमाग़ में नहीं आता...कैसे काम करूँगा?" तो मैं कहती कि "कुछ दिनों के लिए काम भूल क्यों नहीं जाते...?" लेकिन कब तक...?

मुझसे कितनी बार कह चुके थे: "अन्ना, तू न होती तो मैं कब का माँ के पास चला गया होता..." लेकिन कब तक...? वो व्यक्ति जो रहा भी अपनी शर्त पर और गया भी अपनी शर्त पर...उसने कभी कम्प्रोमाइज़ नहीं किया।

जाने से पहले वो एक-एक बार सबसे मिले...और अच्छी तरह मिले। उनसे किसी को कोई भी शिकायत नहीं होनी चाहिए...मुझे भी नहीं।

राकेश जी के पिता भी इसी उमर में चले गये थे। और ठीक तीन ही बच्चे पीछे छोड़ कर गये थे—दो लड़के—एक लड़की। और अम्मा भी ठीक मेरी ही उम्र में विधवा हुई थीं—राकेश जी भी ठीक इतनी ही उम्र के थे जितना उनका बड़ा लड़का नवनीत है--जिसकी माँ आज श्रीमती शीला डोभाल हैं। आज मेरी यही इच्छा है कि मैं भी अम्मा की तरह अपने बच्चों को उतनी ही शक्ति बटोर कर बड़ा और होनहार बना सकूँ। जीने की तमन्ना न होते हुए भी आज मैं ईश्वर के आगे प्रार्थना करती हूँ कि मुझे तब तक जीवित रखे जब तक मैं राकेश जी द्वारा मेरे ऊपर विश्वास से छोड़ी ज़िम्मेदारियों को निभा न लूँ। लेकिन इतना साथ कहते हुए कि मेरे बच्चों का मुझमें इतना असीम प्यार न पैदा हो कि जिसकी वजह से उनके घर नष्ट हो जायें। मैं जहाँ भी होऊँगी यही प्रार्थना करूँगी कि वह हमेशा-हमेशा के लिए सुखी रहें।

आज मैं उतनी बदनसीब नहीं हूँ जितनी मैं अपने आपको राकेश जी से मिलने से पहले महसूस करती थी, क्योंकि तब मैं दिशाहीन थी। आज राकेश जी चले गये हैं तो भी मुझे दिशा देकर गये हैं—मुझे रास्ते पर डाल कर गये हैं—उस सबके बावजूद भी आज मैं अपनी ज़िन्दगी को सार्थक पाती हूँ।

अम्मा के चले जाने के बाद मुझे राकेश जी कितना-कितना समझाते थे—"देखो अन्ना, तुम अपनी माँ को इतना बुरा-भला न कहा करो क्योंकि माँ आखिर माँ ही होती है।"—और यह उन्होंने साबित भी कर दिया।

जहाँ राकेश जी इतने प्रगतिशील विचारों के थे वहाँ वह बहुत ज़्यादा कन्वेंशनल भी थे। बड़ों का आदर-सम्मान करना और उनका आशीर्वाद पाने में उनका दृढ़ विश्वास था।

वह स्वयं कहा करते थे कि पिता की सृजनशीलता और माँ के संस्कार दोनों से

उनके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है।

राकेश जी के पिता के बारे में तो मैंने सिर्फ़ सुना ही था। लेकिन माँ के स्नेह को तो मैं देख भी सकी हूँ। उन्होंने मुझ में भी असीम विश्वास पैदा किया था—ठीक उसी तरह मौन रह कर। उन्होंने मुझे कभी यह बताने की कोशिश नहीं की कि उनका बेटा कितना बड़ा, कितना महान है; कि उनके बेटे को क्या पसन्द है, क्या नहीं पसन्द है—वो यह विश्वास मुझ में ही पैदा करती रहीं कि मैं राकेश जी को बहुत अच्छी तरह समझ गयी हूँ। उन्हें ठीक से समझने के लिए उन्होंने मेरे लिए सारे रास्ता खुले रखे। बल्कि अगर कभी झगड़ा निपटाने के लिए माँ के पास जाते तो अम्मा राकेश जी को कहतीं, "अपने बच्चों को भी माँ कभी ग़लत कह सकती है!" उन्होंने ज़िन्दगी के किसी भी झगड़े को निपटाने का सबसे सीधा, सरल और स्वस्थ रास्ता अपनाया हुआ था। कभी हम लोग घर पर नहीं होते, और कोई कुछ पूछने आ जाता तो अम्मा कहतीं, 'मैं कुछ नहीं बता सकती। मेरे बच्चों को ही पता होगा।"

उनका स्नेह कभी खत्म नहीं हुआ। जब बच्चे घर में आये तो लगा कि अम्मा की एक नयी ज़िन्दगी शुरू हुई है। पुरवा ने तो सबसे अधिक माँ का स्नेह और दुलार पाया। इसलिए, अम्मा चली गयी हैं—इस सत्य को पुरवा तक पहुँचाने की हम दोनों में से किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी। नतीजा कि पुरवा हर रोज़ माँ का इन्तज़ार कर-कर के दिन काटने लगी। और राकेश जी सिर्फ़ उसका खयाल रख-रख कर कभी भी माँ के विरह में नहीं रो सके। फिर एक दिन उन्होंने मुझ से कहा कि हमें पुरवा को सब कुछ बता देना चाहिए—क्योंकि जिस दिन भी उसे पता चलेगा कि हमने उससे बहुत बड़ा झूठ बोला है तो वो हमें कभी माफ़ नहीं करेगी। यही बात मुझे तीन दिसम्बर को भी याद रही—मैं पुरवा से कुछ नहीं छुपा सकी। अपनी अम्मा और पापा की अखण्ड लाड़ली पुरवा! जब भी मैं उसे देखती हूँ तो मुझे बहुत बल मिलता है। जिस क़दर उस मासूम ने अपने दिल पर पत्थर रख कर सब झेला है उसके आगे मैं नतमस्तक हो जाती हूँ। मुझे सच में ही अगर बल मिला है तो इन बच्चों से, जिनकी वजह से मैं आज भी हँस-खेल लेती हूँ और जिनकी वजह से आज जीने में भी मुझे सार्थकता नज़र आती है।

मैं मन से उन सब लोगों के साथ अपने आपको जुड़ा पाती हूँ कि जिन-जिन के साथ राकेशजी का थोड़ा बहुत भी स्नेह-सम्पर्क रहा है। आज वही बड़ा कुटुम्ब अभी भी जीवित है क्योंकि उसमें आज भी राकेश जी मौजूद हैं। जिन-जिन लोगों ने आज भी मुझे नहीं भुलाया है वह सिर्फ़ इसीलिए कि वह भी कहीं मेरे विश्वास में ही विश्वास रखते हैं कि राकेश जी आज भी हम लोगों के बीच हैं—वो कहीं नहीं गये।

कुछ लोग उनकी कागज़ी वसीयत के पीछे पड़े हुए हैं—यह भूल कर कि

वह मेरे नाम एक और भी पुख़्ता वसीयत कर गये हैं—अपने दोस्तों की—कि जिन्हें कोई भी मुझ से नहीं छीन सकता—मैं उन सबके आगे नतमस्तक हूँ-—उन सब में ही मैं उन्हें पा सकती हूँ...क्योंकि यही उनकी अन्तिम विल भी थी।

प्रिय पाठको[१],

तीस साल का लम्बा सफ़र मैंने आप सबके साथ तय किया। इस 'सफ़र' विशेष का श्रेय आप सबको है। आप में से बहुतों ने मुझे प्यारे-प्यारे पत्र भी लिखे जिनका मैंने आदर किया। इतने लोगों को अपने साथ पाकर वस्तुत: बहुत आत्म-बल मिला। लगा कि आज भी मैं अकेली नहीं हूँ। फलत: मैं इस निर्णय पर पहुँची कि भगवान से बड़ा भक्त अथवा भक्ति होती है—अर्थात् आप हैं।

इस लेखमाला को सफल बनाने में जहाँ आपका हाथ रहा वहाँ मैं उन सबका भी धन्यवाद करना चाहूँगी जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इससे सम्बद्ध रहे हैं अर्थात उन सबका कि जिन-जिन का उल्लेख इसमें किया गया है। सभी ने इसे सफल बनाने में सहायोग दिया। अन्यथा मेरे लिए काफी समस्याएँ उत्पन्न हो सकती थीं और यह लेखमाला अधूरी रह सकती थी।

और अन्त में मुझे कमलेश्वर जी का कोटि-कोटि धन्यवाद देना है जो इस लेखमाला की मुख्य प्रेरणा रहे हैं। मेरे वर्तमान को देख कर उन्होंने यही महसूस किया कि मैं एकबारगी ही अपने आपको कन्ट्रोल कर लूँ ताकि बीता अतीत अंदर ही अंदर न सुलगता रहे। और सच ही यह नुस्खा काफी काम कर गया। आज की अनीता लेखमाला से पूर्व वाली अनीता से काफी भिन्न दिखती है अर्थात आज मैं बीते धरातल से भविष्य के साथ सम्बन्ध जोड़ने के योग्य अपने को पाती हूँ।

इसको लिखने के दौरान एक बात अवश्य महसूस की और वह यह कि जहाँ मैं यह मान कर चलती थी कि 'साहित्य' अथवा 'लिखना' एक बहुत ही प्रभाव-शाली माध्यम हैं वहाँ मैंने इस सिरीज़ के दौरान इसे ऐसा नहीं पाया।

बहुत सम्भव है कि यह मेरा हिन्दी भाषा पर कमांड न होने का नतीजा रहा हो। लेकिन फिर भी भाव व्यक्त करने में क्यों कमज़ोरी रह गयी ? सम्भवत:

१. 'चन्द सतरें और' गत दो वर्ष से 'सारिका' में एक लेखमाला के रूप में प्रकाशित हो रही थीं। यह पत्र उसी लेखमाला की अन्तिम किश्त के रूप में 'सारिका' के पाठकों के नाम उसी संदर्भ में हैं।

अपनी किसी कमज़ोरी की वजह से मैं अब यह मानने लगी हूँ कि शब्द 'भाव' जब किन्ही अन्य शब्दों द्वारा एक्सप्रेस किया जाता है तो केवल 'अभाव' ही उत्पन्न करता है अर्थात् 'भाव' शब्द का अर्थ अथवा एक्सप्रैशन केवल उसी शब्द में ही निहित है अन्यथा कहीं नहीं। शब्दों के चुनाव में कभी-कभी लगा कि अतिशयोक्ति हो रही है। फिर उससे हलके शब्दों में प्रस्तुत करना चाहा तो लगा बात ही नहीं बनी। और अन्त में हार कर उस अंदाज़ में लिखा जो आपके सामने आया। उसमें जो भी त्रुटियाँ रह गयी हैं अब उसका एक हिस्सा बन चुकी हैं।

अब आप के भेजे गये कुछ पत्रों का हवाला अथवा स्पष्टीकरण यहाँ करना चाहूँगी। कई पाठकों ने लिखा कि हमने कमलेश्वर जी को लिखा कि वह आपसे 'गर्दिश के दिन' के अन्तर्गत क्यों कहीं लिखवाते। तो उसका उत्तर केवल इतना ही है कि दो वर्ष तक लगातार जो कमलेश्वर जी छापते रहे वो 'गर्दिश के दिन' नहीं तो और क्या था ?

दूसरा, कि आप लोग मुझे 'देवी' आदि सम्बोधन देते रहे तो उसके लिए यह कि मेरे साथ कोई नयी घटना नहीं हुई। हमारे चारों तरफ़ यही कुछ हो रहा है। क्योंकि यही जीवन है। यह बात अलग है कि वह सब प्रकाश में नहीं आ पायी। मैं भी यदि राकेश जी से सम्बद्ध न होती तो ऐसे ही अनजाने आती और चली जाती क्योंकि चन्द्रमा, सूर्य से उधार माँगे या मिले प्रकाश से ही चमकता है, अन्यथा नहीं। इस लेखमाला का दूसरा पहलू यह रहा कि मैं अनगिनत लोगों को जान पायी। उनकी भिन्न-भिन्न परिस्थियों को जान सकी कि अन्य लोग भी कहाँ-कहाँ, किन-किन परिस्थितियों में जी रहे हैं। यह अपने में एक बहुत बड़ा अनुभव था जो सम्भवत: कभी न मिलता। मुझे अच्छा लगा कि आपने मुझ में इतना विश्वास पाया कि इतना कुछ मेरे साथ बाँटा। इसी लिए लगता है कि ज़िन्दगी और कुछ नही, तेरी-मेरी कहानी है।

इसके साथ ही एक बहुत प्यारी बात याद आयी। एक दिन मैं और कमलेश्वर जी बैठे बात कर रहे थे। बीच-बीच में 'शैली' कमलेश्वर जी की गोद में बैठता, उछलता, कूदता और फिर भाग जाता। यह कार्यक्रम कुछ देर तक चलता रहा। हम लोग डिस्टर्ब हो रहे थे। मुझे गुस्सा आने लगा कि इतने में कमलेश्वर जी ने एक बहुत ही प्यारी बात कही, जिसे मैं कभी नहीं भूल पाऊँगी। उन्होंने कहा, "तुझे पता है मैं राकेश को १९५० से जानता था और और अन्त तक जानता ही रहा। लेकिन बचपन वाले राकेश को न मैं जानता था और न ही देख सका। लेकिन अब...अब वो सब बीता देख रहा हूँ। जो देख चुका हूँ उसके लिए नहीं भी रहा तो दुःख नहीं होगा।" मैं सकते में सिर्फ़ उन्हें देखती रही।

अपनी पूरी कहानी लिखने के बाद एक और बात का एहसास हुआ। 'बचपन' में बचपन से विद्रोह करती रही। सोचती थी, बड़े होकर समस्याओं

का समाधान कर लूँगी। बड़ी हुई तो उसमें और बड़ी समस्याएँ आयीं। अब सोचती हूँ, अधेड़ कब होऊँगी लेकिन तब शायद दूसरी समस्याएँ होगीं; तो शायद मौत ही समाधान है। लेकिन अफ़सोस, तब एहसास ही समाप्त हो जाता है। तो क्या एहसास ही जीवन है...बहरहाल छोड़िये...मैं भी कहाँ भटक गयी।

अन्त में सिर्फ़ इतना कि इस लेखमाला शुरू करने से पहले शपथ तो की कि जो कहूँगी सच कहूँगी और सच के सिवा और कुछ नहीं कहूँगी। इस बीच बहुत लोगों ने मेरे लिए 'बोल्ड', 'फ्रैंक' आदि शब्द प्रयोग किये लेकिन मैं केवल 'सिन्सीयर' शब्द के हक़ में हूँ। हाँ, इतना ज़रूर है कि बहुत कुछ नहीं लिखा, लेकिन सिर्फ़ वही जो पब्लिक कंज़म्शन के लिए नहीं था। कितना कुछ होता है जो व्यक्ति मन में ही लेकर चला जाता है। आज भी मैं केवल उन्हीं 'चन्द सतरें और' को याद करती हूँ जो राकेश जी बिना कहे, बिना सुनाये ही चले गये। वह क्या थीं... कैसी थीं ? उन्हीं एक अनकही बातों की याद में मैं इस पत्र को यहीं समाप्त करती हूँ—अपनी भी उन चन्द सतरों के बिना जो लिखी नहीं जा सकतीं।

शुभ कामनाओं सहित,

—— अनीता